ओ३म्

न्याय दर्शन

गौतम

पतञ्जलि—मुनि प्रणीतम्

भारतदेश–भाषानुवाद–सहितम्

आवश्यक तत्रतत्रोपयुक्त विशिष्टव्याख्यानैः परिवृंहितम्

मनुस्मृति, योग, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त, गीता
व्याख्याकारेण सामवेदभाष्यकारेण
वेदप्रकाश सम्पादकेन

श्री प० तुलसीराम स्वामिना

सम्पादितम्

तदेव

प० छुट्टनलाल स्वामिना स्वीये स्वामियन्त्रालये
मुद्रितम्

पुस्तक मिलने का पता -
स्वामी प्रेस मेरठ

चतुर्थ वार १०००   मूल्य एक प्रति ।॥)

ॐ
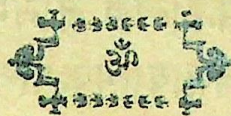
न्यायदर्शन-भाषानुवाद

१=प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्ताऽवयव-तर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजाति निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥ १ ॥

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान; इन सोलह १६ पदार्थोंके तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है ॥

इन १६ पदार्थों के निर्देश आप ही शास्त्रकार ने आगे लिखे हैं। देखो १६ सूत्र ३, ६, २३ २४, २५, २६, ३२, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ५१, ५६ और ६० इन में क्रम से १६ पदार्थों के निर्देश हैं ॥ १ ॥

क्या तत्त्वज्ञान के अनन्तर अर्थात् ज्यों ही तत्त्वज्ञान हुआ और मोक्ष है ? नहीं तो फिर तत्त्वज्ञान से क्रम से क्या २ होता है ?

२=दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ २ ॥

दुःख, प्रवृत्ति और दोष के अर्थ क्रम से आगे सूत्र २१, १७ और १८ में आये हैं। जन्म=देह धारनाहै। इनके उत्तरोत्तर नाश होने पर जैसे कि तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञान का नाश होता है, उस से दोषों का अभाव, दोषाऽभाव से प्रवृत्ति की निवृत्ति, उससे जन्म का दूर होना उसके न होने से सब दुखों का नाश, बस दुःखों का अत्यन्त नाश ही मोक्ष है ॥

जब तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान दूर हुआ तब दोष नष्ट होते हैं। दोषों के नाश से प्रवृत्ति नहीं होती और प्रवृत्ति के रुक जाने से जन्म नहीं होता। बस सब दुःखों के अत्यन्त अभाव को ही अपवर्ग, निःश्रेयस और मोक्ष कहते हैं ॥ २ ॥

३=प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ ३ ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये (चार) प्रमाण हैं ॥ ३ ॥

इनके लक्षण ग्रन्थकार ने आगे ही किये हैं कि-

४=इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यम-व्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ ४ ॥

इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं, जिनका नाम न रख सकें, जो अटल यथार्थ और निश्चयरूप हो ॥

५=अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत सामान्यतोदृष्टञ्च ॥ ५ ॥

(साध्य साधन के संबन्ध देखने से जो ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं, अनुमान से जो सिद्ध होता है उसे साध्य और जिस के द्वारा साध्य जाना जाय उसे साधन कहते हैं । इन्हीं को लिङ्गी और लिङ्ग भी कहते हैं जैसे धूम को जहां २ देखा वहां २ अग्नि को भी देखने से ज्ञात हुआ कि धूम बिना अग्नि के नहीं रहता । इसी ज्ञान को व्याप्ति ज्ञान कहते हैं व्यापक-अधिकरण में व्याप्य का नियम से रहना व्याप्ति है । अधिक देश में जो रहे वह व्यापक जैसे जहां धूम रहता है वहां अग्नि अवश्य रहता है और जहां धूम नहीं रहता वहां भी अग्नि रहता है । जैसे तपाये हुए लोह के गोले में अग्नि रहता है पर धूम नहीं; इस लिये अग्नि व्यापक और धूम व्याप्य है क्यों कि अग्नि के अभाव में धूम नहीं रहता । अल्प देशमें रहने से व्याप्य कहाताहै । फिर कहीं केवल धूम के देखने से अग्नि का ज्ञान होता है, इसी को अनुमान कहते हैं । यहां अग्नि साध्य और धूम को साधन समझना चाहिये) अब प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान तीन प्रकार का है-१-पूर्ववत् २-शेषवत् और ३-सामान्यतोदृष्ट ॥

जहां कारण से कार्य का अनुमान होता है, उसे „ पूर्ववत् " कहते हैं । जैसे बादलों के उठने से होने वाली वर्षा का अनुमान । क्यों कि बादलों का होना वर्षा का कारण और वर्षा कार्यहै । इससे उलटे अर्थात् कार्यसे कारणके अनुमान को „शेषवत्" कहते हैं । जैसे नदी के चढ़ाव से प्रथम हुई वृष्टि का अनुमान । नदीका चढ़ना वर्षा का कार्य है । अन्यत्र बार २ देखने से अप्रत्यक्ष दूसरे के अनुमान को „सामान्यतोदृष्ट" कहते हैं । जैसे कोई पदार्थ बिना क्रिया के एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा नहीं सकता । यह कई बार देखने से सिद्ध हो गया । फिर देवदत्त को एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थान में देख कर उस की गति का अनुमान करना इस को „ सामान्यतोदृष्ट " कहते हैं ।५॥

६=प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ॥ ६ ॥

प्रसिद्ध पदार्थ के सादृश्य से साध्यके साधनेको उपमान कहतेहैं । (जैसे किसी मनुष्य को नील गाय शब्द का अर्थ ज्ञात न था, उस ने किसी से सुन लिया कि जैसी गाय होतीहै वैसे ही नील गाय होता है । फिर कभी बन में नील गाय देख पड़ा, उसे देखते ही „ गायके सदृश नील गाय होता है " इस बातका स्मरण होते ही उसको

नील गाय नाम और यह गौ के सदृशदेह उसका अर्थहै। यह ज्ञान उत्पन्न होताहै। संज्ञा और उसके अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होना उपमान प्रमाण का फल है)॥ ६॥

७=आप्तोपदेशः शब्दः ॥ ७॥

आप्त के उपदेश को शब्द कहते हैं।

(अर्थ के साक्षात्कार करने वाले का नाम आप्त है)॥ ७॥

८=स द्विविधोदृष्ठार्थत्वात् ॥ ८॥

वह शब्द प्रमाण दो प्रकारका है-एक दृष्टार्थ, दूसरा अदृष्टार्थ। (जिस शब्दका अर्थ इस लोक में देख पड़े वह दृष्टार्थ और जिस का अर्थ प्रत्यक्षसे प्रतीत न हो, जैसे-ईश्वर इत्यादि में, वह अदृष्टार्थ है)॥ ८॥

प्रमाणों का विभाग पूरा हुआ, अब प्रमेयों का विभाग लिखते हैं कि:—

९=आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोष-प्रेत्यभावफलदुःखाऽपवर्गास्तु प्रमेयम् ॥ ९॥

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग ये १२ प्रमेय हैं॥ ९॥ आत्मा आदि के लक्षण क्रम से कहते हैं-आत्मा प्रत्यक्ष देख नहीं पड़ता तो क्या केवल प्रामाणिक लोगों के कहने मात्र से जाना जाता है? नहीं अनुमानसे भी आत्माका ज्ञान होताहै। इसीका उपपादन अगले सूत्रसे करतेहैं कि-

१०=इच्छाद्वेष प्रयत्न सुख दुःखज्ञानान्यात्मनोलिङ्गम् ॥ १०॥

इच्छा द्वेष, प्रयत्न सुख दुःख और ज्ञान, आत्मा के लिङ्ग (साधक) हैं। (जिस वस्तुके सम्बन्धसे आत्मा सुख पाता है उस वस्तु को देख कर लेने की इच्छा करता है। यह इच्छा अनेक पदार्थों के देखने वाले किसी एक द्रष्टा को दर्शन से होती है, इसलिये आत्मा की साधक है। अनेक अर्थों का अनुभव करने वाला कोई एक है। जिस अर्थ के संयोग से दुःख पाता है उससे द्वेष करता है जो वस्तु सुख का साधन है उसे देखनेका प्रयत्न करता है। यह अनेक अर्थों के एक द्रष्टाके विना नहीं होसकता। सुख और दुःख के स्मरणसे यह उस२ के साधन को ग्रहण करता है। सुख और दुःख को पाता है। जानने की इच्छा करता हुवा विचारता है कि यह क्या वस्तु है फिर विचारसे जान लेता है कि यहां अमुक वस्तु है। यह ज्ञान आत्मा का लिङ्ग है)॥१०॥

११=चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ॥ ११॥

क्रिया, इन्द्रियें और अर्थः, इन के आश्रय को शरीर कहते हैं॥ ११॥

१२=घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥१२॥

नासिका, रसना, चक्षु, त्वचा और कर्ण ये ५ इन्द्रियें पञ्चभूतों से उत्पन्न हुई हैं।१२।

१३=पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि ॥ १३॥

पृथवी, जल, अग्नि वायु और आकाश, ये भूत कहाते हैं (और ये ही इन्द्रियों के कारण हैं)॥ १३॥

१४=गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ॥१४॥

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द; ये पांच पृथिवी आदि पञ्चभूतों के गुण और नासिका आदि इन्द्रियों के विषय हैं ॥ १४ ॥

१५=बुद्धि रुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥ १५ ॥

बुद्धि, उपलब्धि ज्ञान ये समानार्थक (पर्याय) शब्द हैं ॥ १५ ॥

१६=युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम् ॥ १६ ॥

(घ्राण आदि इन्द्रियों का गन्धादि अपने २ विषयों के साथ सम्बन्ध रहते भी एक ही समय अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते, इससे अनुमान होता है कि उस २ इन्द्रिय का कोई दूसरा सहकारी कारण है, जिस के सँयोग से ज्ञान होता है और जिस के संयोग न रहने से ज्ञान नहीं होता । इसीका नाम मन है मन के संयोग की अपेक्षा न करके केवल इन्द्रियों और विषयों के संयोग ही को ज्ञान का कारण मानें तो एक सङ्ग अनेक ज्ञान होने चाहियें और यह अनुभव के विरुद्ध है इस लिये) एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न न होना मन की पहचान है ॥ १६ ॥

१७–प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ इति ॥ १७ ॥

वाणी, बुद्धि और शरीर से काम करने को प्रवृत्ति कहते हैं ॥ १७ ॥

१८--प्रवर्तनालत्त्तणा दोषाः ॥ १८ ॥

प्रवृत्ति के कारण दोष हैं । (राग द्वेष और मोह को दोष कहते हैं । यही तीनें जीव की प्रवृत्ति कराते हैं) ॥ १८ ॥

१९–पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ १९ ॥

मर कर फिर जन्म लेने को „ प्रेत्यभाव ” कहते हैं ॥ १६ ॥

२०–प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् ॥ २० ॥

प्रवृत्ति (देखो सूत्र १७ । १८) और दोषों से उत्पन्न अर्थ को „ फल ” कहते हैं ।२०।

२१–बाधनालक्षणं दुःखमिति ॥ २१ ॥

बाधना (पीड़ा) से पहचाना (जो प्रतिकूल जान पड़े) दुःख है ॥ २१ ॥

२२–तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ २२ ॥

उस दुःख से अत्यन्त (बिलकुल) विमुक्ति का नाम अपवर्ग मोक्ष है ॥ २२ ॥
अब संशय का लक्षण करते हैं—

२३–समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्य-व्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः ॥२३॥

१-(दूर से सूखा वृक्ष देख कर उस में स्थाणु और पुरुष के ऊँचाई और मोटा-

पन समानधर्म देखता हुवा पहिले जो विशेषधर्म देखे थे अर्थात् पुरुष में हाथ पांव और ठूंठे वृक्ष में घोंसला आदि उनको जानने की इच्छा करना कि यह क्या वस्तु है) स्थाणु है वा पुरुष ? इनमें से एक का भी निश्चय नहीं कर सकता इस अनिश्चय रूप ज्ञान को संशय कहते हैं ॥

२-विप्रतिपत्ति अर्थात् परस्पर विरोधी पदार्थों के सहभाव देखने से भी संशय होता है । जैसे एक कहता है कि आत्मा है, दूसरा कहता है कि नहीं । सत्ता और असत्ता एकत्र रह नहीं सकतीं और दो में से एक का निश्चय कराने वाला कोई हेतु मिलता नहीं, वहां तत्व का निश्चय न होना संशय है ॥

३-उपलब्धि की अव्यवस्था से भी संशय होताहै । जैसे सत्यजल तालाब आदि में और असत्यजल किरणों में । ऐसे ही—

४-अनुपलब्धि की अव्यवस्थासे भी संदेह होताहै । पहले लक्षण में तुल्य अनेक धर्म ज्ञेय वस्तु में हैं, और उपलब्धि अनुपलब्धि ये जानने वाले में हैं इतनी १ । २ से ३ । ४ में विशेषता है ॥ २३ ॥

२४-यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनम् ॥ २४ ॥

जिस अर्थ को पानेयोग्य वा त्यागने योग्य निश्चय करके प्राप्ति वा त्यागका उपाय करें उस (अर्थ) को „ प्रयोजन " कहते हैं ॥ २५ ॥

२५-लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं सदृष्टान्तः ॥२५॥

लौकिक (साधारण लोग जो शास्त्र नहीं पढ़े) और परीक्षक (जो प्रमाणों से अर्थ की परीक्षा करसकें) इन दोनों के ज्ञान की समता (जिस वस्तुको लौकिक जैसा समझते हों, परीक्षक भी उस को वैसे ही जानते हों इस) का नाम दृष्टान्त है ॥ २५ ॥

२६-तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः ॥ २६ ॥

तन्त्र (शास्त्र,के अर्थकी संस्थिति (निर्णय कियेअर्थ) को सिद्धान्त कहतेहैं ।२६॥

२७-सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात्॥२७

वह सिद्धान्त चार प्रकार का है-सर्वतन्त्र १, प्रतितन्त्र २, अधिकरण ३, और अभ्युपगम सिद्धान्त ४ में अर्थान्तर होने से ॥ २७ ॥

२८-सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थःसर्वतन्त्रसिद्धान्तः ॥२८॥

सब तन्त्रों (ग्रन्थों) से अविरुद्ध किसी एक तन्त्र में स्वीकार किये गये अर्थको „ सर्वतन्त्रसिद्धान्त " कहते हैं । (जिस को सब शास्त्रकार मानें) ॥ २८ ॥

२९-समानतन्त्रसिद्धःपरतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः ॥२९॥

एक तन्त्र में सिद्ध और दूसरे में असिद्ध को „ प्रतितन्त्र सिद्धान्त " कहते हैं । (अपने अपने तन्त्र का सिद्धान्त) । २९ ॥

३०–यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ॥३०॥

जिस के सिद्ध होने से अन्य अर्थ भी (नियम से) सिद्ध हों (अर्थात् उस अर्थ की सिद्धि बिना अन्य अर्थ सिद्ध न हो सकें) उसे „अधिकरण सिद्धान्त" कहते हैं। (जैसे–देह और इन्द्रियों से भिन्न कोई जानने वाला है, देखने छूने से एक अर्थ के ज्ञान होने से। यहां इन्द्रियों का अनेकपन, उस के विषयों का नियत होना, इंद्रियां ज्ञाता के ज्ञान की साधक हैं, इत्यादि विषयों की सिद्धि आप हो जाती है। क्यों कि उन के माने बिना उक्त अर्थ का सम्भव नहीं) ॥ ३० ॥

३१–अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः॥३१॥

परीक्षा के बिना किसी वस्तु के अङ्गीकार करनेसे उस वस्तुकी विशेष परीक्षा करने को „ अभ्युपगम सिद्धान्त " कहते हैं। (जैसे मान लिया कि शब्द द्रव्य है परन्तु वह नित्य है वा अनित्य। यह विशेष परीक्षा हुई। यह सिद्धान्त अपनी बुद्धि की अधिकता और दूसरे की बुद्धि का अनादर करने के लिये काम में आता है अर्थात् तुम्हारे असत्य कहने को मान कर भी तुम्हारा पक्ष नहीं बनता यह) ॥ ३१ ॥

३२–प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥ ३२ ॥

प्रतिज्ञा हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, ये पांच (वाद के) अवयव (भाग) कहाते हैं। जिस में से:—

३३–साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥ ३३ ॥

साध्य के कथन को „ प्रतिज्ञा " कहते हैं। जैसे-घट अनित्य है ॥ ३३ ॥

३४–उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः ॥ ३४ ॥

उदाहरण के साधर्म्य (तुल्यता) से साध्य के साधनेको „हेतु" कहतेहैं। (जैसे उत्पत्ति धर्मवान् होनेसे। जो उत्पत्ति धर्मवान् है अर्थात् जो वस्तु उत्पन्न होताहै वह अनित्य देखा गया है) ॥ ३४ ॥ हेतु का लक्षण और भी है कि:–

३५–तथा वैधर्म्यात् ॥ ३५ ॥

उदाहरणके वैधर्म्य से भी साध्यके साधने को हेतु कहतेहैं। (जैसे घट अनित्य है उत्पत्ति धर्मवान् होने से। जो उत्पत्तिधर्मवान् नहीं, वह नित्य है। जैसे आत्मा-यहां उदाहरण के विरोधी धर्म से घट का अनित्यत्व सिद्ध किया है) ॥ ३५ ॥

३६–साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ॥ ३६ ॥

साध्य के साथ समानता से, साध्य का धर्म जिस में हो. ऐसे दृष्टान्त को „ उदाहरण " कहते हैं। (जैसे जो उत्पन्न होता है वह उत्पत्तिधर्मवान् कहाता और उत्पन्न होने के पीछे नष्ट भी होजाता है। इस लिये अनित्य हुवा। इस प्रकार उत्पत्ति धर्म वाला पट साधन और अनित्यत्व साध्य हुआ। जिन धर्मों का साध्यसाधन भाव एक वस्तु में निश्चित पाया जाता है, उसको दृष्टान्त में देख, घटमें भी अनुमान

करना कि घट उत्पत्ति वालाहै, इसलिये अनित्यहै; पट की नाई; यहां पटदृष्टान्तहै)।३६।

३७—तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ॥ ३७ ॥

अथवा साध्य के विपर्यय से विपरीत (उलटा) उदाहरण होता है। (जैसे:- घट अनित्य है उत्पत्ति धर्मवान् होने से। जो उत्पत्ति धर्मवान नहीं है वह नित्य देखा गया है। जैसे आकाशादि। वहां दृष्टान्त में उत्पत्तिधर्म के अभाव से नित्यत्व देख कर घट में विपरीत अनुमान किया जाता है। क्योंकि घट में उत्पत्तिधर्म है, उसका अभाव नहीं, इसलिये अनित्य है) ॥ ३७ ॥

३८—उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारोनतथेतिवासाध्यस्योपनयः।३८।

उदाहरणाधीन " तथा " अथवा " न तथा " इस रूपसे साध्यके उपसंहारको उपनय कहते हैं। उदाहरण दो प्रकार के होते हैं, इस लिये उपनय भी दो प्रकार के हुवे। जैसे-पट आदि पदार्थ उत्पत्ति वाले होने से अनित्य देखे गये हैं वैसे घट भी उत्पत्तिमान् है। यह घट के उत्पत्तिधर्मवत्व का उपसंहार हुआ। साध्य के विरुद्ध उदाहरण में आत्मादि पदार्थ-उत्पत्तिमान् न होने से नित्य हैं और घट तो उत्पत्तिधर्म वाला है। यह अनुत्पत्तिधर्म के निषेध से उत्पत्तिधर्मवत्व का उपसंहार हुवा। अर्थात् जहां साधर्म्य का दृष्टान्त होगा वहां " तथा " ऐसा उपनयन होगा। और जहां वैधर्म्य का दृष्टान्त होगा वहां " न तथा " का) ॥ ३८ ॥

३९—हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् ॥ ३९ ॥

(इसलिये उत्पत्तिधर्मवान् होनेसे घट अनित्यहै। इसे निगमन कहते हैं) प्रतिज्ञा हेतु, उदाहरण और उपनय; ये जिस में एकत्र समर्थन किये जांय, उस को निगमन कहते हैं। सुगमता के लिये पूर्वोक्त सब अवयव फिर से दिखलाये जाते हैं। घट अनित्य है, यह प्रतिज्ञा। उत्पत्तिधर्मवान् होने से, यह हेतु। उत्पत्तिधर्मवान् पटादि द्रव्य अनित्य देखने में आते हैं, यह उदाहरण ऐसा ही घट भी उत्पत्तिधर्मवान है, इसको उपनय कहते हैं इस लिये उत्पत्तिधर्मवान् होने से घट अनित्य सिद्ध हुआ, इसका नाम निगमन है ॥

४०—अविज्ञाततत्त्वेऽर्थेकारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।४०।

नहीं जाना है तत्व जिसका, ऐसे अर्थ में हेतु की उपपत्ति से तत्वज्ञान के लिये किये हुवे विचार को तर्क कहते हैं। (जिस वस्तु का तत्व ज्ञात नहीं,)

४१—विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थाऽवधारणं निर्णयः ॥४१॥

इति प्रथमाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥ १ ॥

साधन और निषेध से विचार करके अर्थके निश्चय को " निर्णय " कहते हैं ॥ साधन और निषेध के कथन पक्षप्रतिपक्ष कहाते हैं। उन में एक की निवृत्ति होने से दूसरे की स्थिति अवश्य हो जायगी, जिस की स्थिति होगी उस का निश्चय होगा, इसी को निर्णय " कहते हैं ॥ इति प्रथम अध्याय का प्रथम आह्निक ॥

ओ३म्

अथ द्वितीयमाह्निकम्
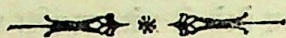
वाद जल्प और वितण्डा; ये तीन प्रकार की कथा होती हैं, उन में वाद का लक्षण यह है कि:-

४२-प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताऽविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहोवादः ॥ १ ॥

(एकमें परस्परविरोधी दो धर्म = पक्ष प्रतिपक्ष कहातेहैं। जैसे-एक कहताहै कि आत्मा है दूसरा कहता है कि नहीं)। पक्ष और प्रतिपक्षके अङ्गीकारको वाद कहतेहैं। उस के प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ सिद्धान्ताविरुद्ध और पञ्चावयवोपपन्न; ये तीन विशेषण हैं। जिसमें अपने पक्ष का प्रमाण स्थापन और प्रतिपक्ष का तर्क से निषेध हो, सिद्धान्त का विरोधी न हो और पांच अवयवोंसे युक्त हो, उसे वाद कहते हैं (प्रतिज्ञा हेतु इत्यादि ५ अवयव लक्षण सहित पूर्व ही लिखे गये हैं) ॥

४३-यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भोजल्पः ॥२॥

उक्त लक्षणयुक्त, छल जाति और निग्रहस्थान से साधन और निषेध जिस में किये जांय, उसको " जल्प " कहते हैं अर्थात् वाद और जल्प में इतना ही भेद है कि वादमें छल आदिसे साधन वा निषेध नहीं किये जाते परन्तु जल्पमें ये काम आते हैं। छल जाति और निग्रस्थान के लक्षण क्रम से आगे लिखे जायँगे॥

४४-स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ॥ ३ ॥

जिस में प्रतिपक्ष का स्थापन न हो, ऐसे जल्प को वितण्डा कहते हैं ॥

४५-सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमऽतीतकाला हेत्वाभासाः ॥ ४ ॥

हेतुसे दीख पड़ें परन्तु वस्तुतः हेतु के लक्षणों से रहित हों उनको हेत्वाभास कहते हैं। सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, और अतीतकाल, ये पांच हेत्वाभास हैं। आगे इन पांचों के लक्षण क्रम से लिखते हैं कि:-

४६-अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ॥ ५ ॥

अव्यवस्था को व्यभिचार कहते हैं, अनैकान्तिक व्यभिचार सहित को सव्यभिचार हेतु कहते हैं। जैसे-किसी ने कहा कि शब्द नित्य है, स्पर्शवान् न होने से,

स्पर्शवाला घट अनित्य देखा जाता है, वैसा शब्द स्पर्शवाला नहीं, इसलिये शब्द नित्य है। यहां दृष्टान्त में स्पर्शवत्त्व और अनित्यत्वरूप धर्म साध्यसाधनभूत नहीं है। क्योंकि परमाणु स्पर्शवान् हैं पर अनित्य नहीं प्रत्युत नित्य हैं, ऐसे ही यदि कहें कि जो स्पर्शवान नहीं, वह नित्य है। जैसे आत्मा; तो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि बुद्धि स्पर्शवाली नहीं, पर नित्य नहीं है किन्तु अनित्य है। इस प्रकार दोनों दृष्टान्तों में व्यभिचार आने से स्पर्शवत्त्व न होना हेतु सव्यभिचार हुआ। एक अन्त में रहने वाले को ऐकान्तिक कहते हैं इससे विपरीत को अनैकान्तिक जानना चाहिये॥

४७-सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ॥ ६ ॥

जिस सिद्धान्त को मान कर प्रवृत्त हो, उसी सिद्धान्त के विरोधी हेतु को "विरुद्ध" कहते हैं॥

४८-यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टःप्रकरणसमः ॥७॥

विचार के आश्रय अनिश्चित पक्ष और प्रतिपक्ष को प्रकरण कहते हैं, उसकी चिन्ता सन्देह से लेकर निर्णय तक जिस कारण की गई, वही निर्णय के लिये काममें लाया जावे तो दोनों पक्षों की समता से प्रकरण से आगे नहीं बढ़ता, इस लिये "प्रकरण-सम" हुआ। जैसे किसीने कहाकि शब्द अनित्य है, नित्यधर्म के ज्ञान न होने से, यह हेतु प्रकरणसम है, इससे दो पक्षों में से किसी एक पक्ष का निर्णय नहीं हो सकता। क्योंकि जो शब्द में नित्यत्व धर्म का ग्रहण होता तो प्रकरण ही नहीं बनता अथवा अनित्यत्व धर्म का ज्ञान शब्द में होता तो भी प्रकरण सिद्ध न होता अर्थात् जो दो धर्मों में से एक का भी ज्ञान होता तो शब्द अनित्य है कि नित्य? यह विचार ही क्यों प्रवृत्त होता॥

४९-साध्याऽविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः ॥ ८ ॥

हेतु भी स्वयं साध्य होने से, साध्य के अविशेष (समान) होने के कारण साध्यसम हेत्वाभाव कहाता है। जैसे छायाद्रव्य है, यह साध्य है। गतिवाली होनेसे, यह हेतु है। साधने के योग्य होने से यह हेतु साध्य से विशेष नहीं इस लिये साध्य के सम हुआ क्योंकि छाया में जैसे द्रव्यत्व साध्य है, वैसे ही गति भी साध्य है॥

५०-कालात्ययापदिष्टः कालातीतः ॥ ९ ॥

जिस अर्थ का वर्णन समय चूक कर किया गया हो उसे कालातीत कहते हैं॥

५१-वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम् ॥ १० ॥

अर्थ बदलने से वचन का विघात करना छल कहाता है॥

५२-तत्त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलंचेति ॥११॥

यह (छल) तीन प्रकार का है-वाक्छल, सामान्यच्छल और उपचारच्छल॥

वाक्छल का लक्षण—

५३-अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् १२

साधारण रूपसे कहे अर्थ में वक्ताके अभिप्राय से विरुद्ध अन्य अर्थ की कल्पना को वाक्छल कहते हैं। जैसे किसीने कहा कि " यह बालक नवकम्बलवान् है " यहां कहने वाले का आशय है कि „इस बालक का कम्बल नया है"। छलवादी वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध कहता है कि „इस लड़के के पास तो केवल एक कम्बल है, ६ कहां से आये" यहां „नवकम्बल" समस्त पद है। इसके विग्रह दो प्रकार से होते हैं। एक तो „नवीन है कम्बल जिसका" और दूसरा „नव ६ हैं कम्बल जिस के" नव शब्द के नवीन और नव ६ संख्या ये दो अर्थ हैं। इस लिये नवकम्बल शब्द के समास में दोनों ही अर्थ हो सकते हैं। तब जैसा अर्थ चाहो वैसा ही निकल सकताहै, विशेष अर्थ का ज्ञान समस्त में नहीं। अनेकार्थ शब्द का साधारण से प्रयोग किया जाता है फिर जिस अर्थ का सम्भव हो उसीको लेना चाहिये, न कि असम्भव अर्थ को लेकर दोष देना। यह बाणी का छल होने से वाक्छल है॥

५४-सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसंभूतार्थ कल्पना सामान्यच्छलम् ॥ १३ ॥

सम्भव अर्थके अतिसामान्य के योगसे असम्भव अर्थकी कल्पनाको सामान्यच्छल कहते हैं। जैसे किसी ने कहा कि „यह ब्रह्मचारी विद्याविनयसम्पन्न है"। इस वचन का खंडन अर्थ विकल्प के ग्रहण तथा असम्भव अर्थ की कल्पना से करना कि जैसे ब्रह्मचारी में विद्याविनयसम्पत्ति सम्भव है वैसे व्रात्य में भी हो तो व्रात्य भी ब्रह्मचारी है, वह भी विद्याविनयसंपन्न है। जो वक्ता को इष्ट अर्थ प्राप्त हो उसका उल्लघन करे, उस को अतिसामान्य कहते हैं। जैसे ब्रह्मचारित्व कहीं विद्याविनयसम्पत्ति को प्राप्त होता है और कहीं नहीं भी होता॥

इस का खण्डन यह है कि यह वाक्य प्रशंसार्थक है। इस लिये इसमें असम्भव अर्थ की कल्पना नहीं हो सकती। ब्रह्मचारी सम्पतिका विषय है, उस का हेतु नहीं, क्योंकि यहां हेतु की विवक्षा नहीं अर्थात् ब्रह्मचारी होने से विद्याविनयसम्पन्न है, यह वक्ता का इष्ट नहीं॥

५५-धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् ॥१४॥

यथार्थ प्रयोग करना अभिधान का धर्म है। अन्यत्र इष्ट का प्रयोग अन्य स्थानमें करना धर्म का विकल्प कहाता है। उस के उच्चारण से अर्थ के सद्भाव का निषेध उपचारच्छल कहाता है। जैसे किसी ने कहा-मञ्चान चिल्ला रहे हैं। इस का दूसरा खंडन करता है कि मञ्चानों पर बैठे हुवे पुरुष चिल्ला रहे हैं मञ्चान नहीं चिल्लाते। सहचार आदि कारणों से तद्रूप नहीं उस में तद्रूप के कथन का नाम उपचार है। तद्विषयकछल को उपचारछल कहते हैं। इसका समाधान यह है कि प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध प्रयोग में वक्ताका जैसा आशय हो वैसी अनुमति वा निषेध होंगे, अपनी इच्छा

के अनुसार नहीं, क्योंकि प्रधान और अप्रधान अर्थ के अभिप्राय से दोनों ही प्रकार के शब्दों का प्रयोग लोक में प्रसिद्ध है इस लिये जब वक्ता प्रधान के अभिप्राय से प्रयोग करे तब उसी के स्वीकार और निषेध होने चाहियें। जहां वक्ता अप्रधान के आशय से प्रयोग करता है और दूसरा प्रधान के अभिप्रायसे अपनी इच्छा अनुसार खंडन करता है, यह उचित नहीं। जैसे उक्त उदाहरण में मञ्चान शब्द के दो अर्थ हैं। एक तो किसान लोग खेती की रखवाली के लिये लकड़ियों के ऊंचे बैठक बना लेते हैं उनको मञ्चान कहते हैं। यही अर्थ प्रधान वा मुख्य कहाता है और मञ्चानों पर बैठे हुवे मनुष्य भी उक्त शब्द के अर्थ हैं, पर यह अर्थ अप्रधान वा गौण कहा जाता है। अब विचारना चाहिये कि जिसने "मञ्चान चिल्लाते हैं" यह प्रयोग किया तो उस का आशय अप्रधान विषयक है तब प्रधान अर्थ को लेकर उस का खंडन करना छल ही कहावेगा॥

५६=वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात्॥ १५॥

वाक्छलसे उपचारच्छल पृथक् नहीं क्योंकि दूसरे अर्थकी कल्पना उपचारच्छल में भी समान है अर्थात् जैसे वाक्छल में अर्थान्तर की कल्पना करके खण्डन किया था वैसे ही उपचारच्छल में भी किया, फिर भेद क्या हुवा?

५७=न तदर्थान्तराभावात्॥ १६॥

वाक्छल ही उपचारच्छल नहीं हो सकता क्यों कि अर्थान्तर की कल्पना से दूसरे अर्थ के सद्भावकी कल्पना अन्य अर्थ की सत्ताका निषेध होताहै। उपचारच्छल में और वाक्छल में ऐसा नहीं होता अर्थात् उपचारच्छल में अर्थ बदल कर एक अर्थ का सर्वथा खण्डन कर देते हैं जैसे उक्त उदाहरण में मञ्चान शब्द का अर्थ बदल कर पहले अर्थका खण्डनकर दिया। वाक्छलमें नव शब्द के किसी अर्थ का खण्डन नहीं किया, यही इन में परस्पर भेद है॥

५८=अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादेकच्छलप्रसंगः॥ १७॥

विशेषता न मानोगे तो कुछ तुल्यता मानकर एकही प्रकार का छल रह जायगा, यदि यह हेतु किञ्चित् समानता से छल के त्रिविध होने का खण्डन करेगा तो द्विविध होने का खण्डन भी अवश्य ही करेगा क्यों कि कुछ तुल्यता दो की भी विद्यमान ही है और जो कहो कि किञ्चित् समानता से द्विविधपन की निवृत्ति नहीं होती तो त्रिविधत्व की भी निवृत्ति क्यों कर होवेगी॥

५९=साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः॥ १८॥

साधर्म्य और वैधर्म्य से प्रत्यवस्थान (खण्डन) को जाति कहते हैं॥

६०=विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्॥ १९॥

विपरीत अथवा निन्दित प्रतिपत्ति को विप्रतिपत्ति कहतेहैं और दूसरे से सिद्ध किये पक्ष का खण्डन न करना अथवा अपने पक्ष पर दिये दोषका समाधान न करना

अप्रतिपत्ति है। प्रतिपत्ति शब्द का अर्थ प्रवृति है। यह दोनों निग्रहस्थान अर्थात् पराजयके स्थान हैं। विप्रतिपत्ति वा अप्रतिपत्ति करने से पराजय होता है॥

६१=तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम्॥ २०॥

साधर्म्य वैधर्म्यसे प्रत्यवस्थानके विकल्प से जातिका बहुत्व और विप्रतिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति के विकल्प से निग्रहस्थान का बहुत्व होता है। अनेक प्रकार की कल्पना को विकल्प कहते हैं। जैसे अनुभाषण अर्थात् मौन हो जाना, अज्ञान=न समझना, अप्रतिभा=उत्तर का न स्फुरना, मतानुज्ञा=दूसरे के मत का अङ्गीकार कर अपने ऊपर दिये दोष की उपेक्षा करनी। यह सब अप्रतिपत्ति है और शेष को विप्रतिपत्ति जानना चाहिये॥

यह प्रमाणादि सोलह १६ पदार्थों का लक्षणसहित विभाग पूरा हुआ। आगे दूसरे अध्याय में इन की परीक्षा की जायगी॥

इति प्रथमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्॥ २॥

इति न्यायदर्शनभाषानुवादे प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयाध्याये प्रथममाह्निकम्

सन्देह उठा कर पक्ष और प्रतिपक्षसे अर्थ के निश्चय करने को परीक्षा कहते हैं इस लिये सब का उपयोगी होने से पहिले सन्देह की परीक्षा की जाती है॥

६२-समानानेकधर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशयः॥ १॥

समान और अनेक धर्मोंके अथवा दो में से एक धर्मके ज्ञान से सन्देह नहीं हो सकता। इस सूत्र का आशय भाष्यकार ने दो तीन प्रकार से लगाया है। एक तो यह कि धर्म के ज्ञान से धर्मी में सन्देह नहीं बनता क्यों कि धर्म और धर्मी भिन्न पदार्थ हैं। रूप के ज्ञान से स्पर्श में कभी सन्देह नहीं हो सकता। दूसरा अर्थ कि अवधारण से अनवधारण रूप सन्देह कैसे उत्पन्न हो सकेगा क्यों कि कारण और कार्य समान रूप होते हैं इस लिये निश्चय रूप कारण से अनिश्चय रूप सन्देह नहीं हो सकता। ऐसे ही दो में से एक धर्म के निश्चय से भी सन्देह नहीं बनता। उस से तो एक का निश्चय ही हो जायगा॥

६३-विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च॥ २॥

केवल विप्रतिपत्ति और केवल अव्यवस्था से भी सन्देह नहीं हो सकता किन्तु विप्रतिपत्ति का जिस को ज्ञान हुवा उस को सन्देह होगा। ऐसे ही अव्यवस्था में भी जान लेना चाहिये॥

६४ विप्रतिपत्तौ च संप्रतिपत्तेः॥ ३॥

जिस विप्रतिपत्तिको आप संदेहका हेतु मानते हैं वह संप्रतिपत्ति है क्योंकि यह दो के विरुद्धधर्मविषयक है। यहां विप्रतिपत्तिसे संदेह कहोगे तो संप्रतिपत्ति से भी संदेह होना चाहिये अर्थात् केवल विप्रतिपत्ति सन्देह का कारण नहीं हो सकती॥

६५-अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः ॥ ४ ॥

अव्यवस्था सन्देह नहीं हो सकती क्योंकि अव्यवस्था आत्मा में व्यवस्थित है। व्यवस्थित होने से सन्देह हो नहीं सकता। किसी विशेष विषय में स्थिति को व्यवस्था और उससे विपरीत को अव्यवस्था कहते हैं॥

६६-तथात्यन्तसंशयस्तद्धर्मसातत्योपपत्तेः ॥ ५ ॥

ऐसा होने से अत्यन्त सन्देह हो जायगा क्योंकि उन धर्मों की उपपत्ति निरन्तर विद्यमान है। जिस प्रकार समान धर्मोंकी उत्पत्ति से आप सन्देह मानते हैं उसी से अत्यन्त संशय की आपत्ति आजाती है। समान धर्मों की उपपत्ति का अभाव न होने से सन्देह की निवृत्ति कभी न होगी॥

अब इन सब पूर्व पक्षों का समाधान लिखते हैं:—

६७--यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात्संशयेनासंशयो नात्यन्तसंशयो वा ॥ ६ ॥

विशेषधर्माकाङ्क्षायुक्त उक्त अध्यवसाय से ही सन्देह के स्वीकार से सन्देहका अभाव या अत्यन्त सन्देह नहीं हो सकता। जैसे दो पदार्थ मैंने पहिले देखे थे, उनके समानधर्म देखता हूं, विशेषधर्म ज्ञात नहीं होता, किस प्रकार विशेष धर्मको जानूं? जिस से दो में से एक का निश्चय करूँ और यह सन्देह समान धर्मों के ज्ञान रहते केवल धर्म और धर्मी के ज्ञान से निवृत्त नहीं हो सकता। इससे अनेक धर्मों के अध्यवसाय से सन्देह नहीं होता। इसका समाधान किया और जो कहा था कि दूसरे अर्थके निश्चयसे अन्य अर्थ में सन्देह नहीं होसकता यह उससे कहना चाहिये कि जो केवल अर्थान्तर के अध्यवसाय को सन्देह का कारण मानता हो। जो यह कहा था कि कार्य कारण की समानरूपता नहीं; यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि कार्य और कारण की समानरूपता यही है कि कारण के होने से कार्य का होना तथा कारण के अभाव से कार्य का न होना। यह संशयके कारण और उसके कार्य संशय में विद्यमान ही हैं। और जो कहाथा कि विप्रतिपत्ति की अव्यवस्था के अध्यवसाय से सन्देह नहीं हो सकता यह भी ठीक नहीं। जैसे एक कहता है कि आत्मा है और दूसरा कहता है कि नहीं। इन दो बातों से मध्यस्थ को सन्देह होता है कि दो भिन्न भिन्न बातों से परस्परविरोधी अर्थ जान पड़ते हैं और विशेष धर्म जानता नहीं कि जिसके द्वारा दो में एक का निश्चय करूं। एक वस्तु में परस्पर विरोधी दो बातों का नाम विप्रतिपत्ति है। इसी प्रकार उपलब्धि आदि संदेह में भी समाधान समझ लेना चाहिये और जो यह दोष दिया था कि उस धर्म की निरन्तर उपपत्ति होने से

अत्यन्त सन्देह हो जायगा अर्थात् सन्देह की निवृत्ति कभी न होगी। यह कहना तब ठीक होता जो समानधर्म के अध्यवसाय को सन्देह का कारण कहते। हम तो विशेष धर्मकी स्मृति सहित समान धर्म के अध्यवसाय को सन्देह का कारण कहते हैं, जब विशेषधर्म का ज्ञान होजायगा तब सन्देह की निवृत्ति अवश्य होगी ॥

६८-यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसंगः ॥ ७ ॥

जहां जहां शास्त्र अथवा वाद में सन्देह करके परीक्षा की जाय वहां यदि कोई सन्देह का निषेध करे तौ इसी रीति से समाधान करना चाहिये। इसी लिए संदेह की परीक्षा पहले की गई कि सब परीक्षाओं में यह उपयोगी है ॥

अब प्रमाणों की परीक्षा करते हैं-

६९-प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्याऽसिद्धेः ॥ ८ ॥

प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं हो सकते; तीन काल में असिद्ध होने से अर्थात् पहिले पीछे और साथ में इनका होना असिद्ध है। यह साधारण बचन है। इन के अर्थ की विवेचना अगले सूत्रों में की है ॥

७०-पूर्वंहि प्रमाणसिद्धौनेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ ९ ॥

गन्ध आदि विषय ज्ञान प्रत्यक्ष है. यदि वह पहिले ही से है, गन्ध आदि विषयों की सिद्धिपीछे से होती है तौ इन्द्रिय और अर्थके मेलसे प्रत्यक्षकी उत्पत्ति नहीं हुई ॥

७१-पश्चात्सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः ॥ १० ॥

पीछे से सिद्धि मानोगे तौ प्रमाणों से प्रमेय की सिद्धि नहीं हुई क्योंकि प्रमाण से सिद्ध अर्थ प्रमेय कहाता है ॥

७२-युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थनितत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावोबुद्धीनाम् ।११।

यदि प्रमाण और प्रमेय की सिद्धि एक साथ होती है तौ ज्ञान के प्रत्यक्ष नियत होने से बुद्धियों के क्रमवृत्तित्व का अभाव होगा। और यह ठीक नहीं, क्योंकि एक साथ ज्ञान का न होना मन का लिङ्ग है। एक काल में अनेक ज्ञान नहीं हो सकते। इस लिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों का प्रमाणपन सिद्ध नहीं होता। इन शङ्काओं का समाधान सूत्रकार ने ही आगे किया है कि-

७३-त्रैकाल्यासिद्धेःप्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १२ ॥

तीन काल में असिद्ध होने से प्रतिषेध की उपपत्ति नहीं हो सकती ॥

७४-सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥१३॥

और सब प्रमाणों के प्रतिषेध करने से भी प्रतिषेध सिद्ध नहीं हो सकता ॥ सब प्रमाणों का निषेध कर चुके तौ प्रतिषेध करने में प्रमाण कहां से लाओगे और बिना प्रमाण कोई बात सिद्ध नहीं हो सकती, इसलिये सबप्रमाणोंका निषेध नहीं होसक्ता ॥

७५ तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः॥ १४॥

यदि प्रतिषेध प्रमाण को प्रमाण माने तो सब प्रमाणोंका प्रतिषेध नहीं हो सकता ॥

७६–त्रैकाल्याऽप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत्तत्सिद्धेः ॥ १५ ॥

तीनों काल का निषेध नहीं हो सकता, जैसे शब्द के सुनने से बाजे की सिद्धि होती है। छिपे हुये बीन, बांसुरी तुरी आदि बाजों का शब्द से अनुमान होता है कि बीन आदि बजाये जाते हैं। प्रमाण और प्रमेय का समकाल होने का निमित्त नहीं है, कहीं प्रमाण पहिले कहीं पीछे और कहीं साथ ही रहता है ॥

७७–प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत् ॥ १६ ॥

तुला (तराजू) जैसे प्रमाण और प्रमेय उभयधर्मयुक्त होनेसे प्रमाण और प्रमेय भी कही जाती है। सुवर्णादि द्रव्यों का भार कांटे से जाना जाता है, इस लिये प्रमाण और कांटे का बोझा जब दूसरी वस्तु से ज्ञातहो तब वही प्रमेय हो सकता है। जैसे आत्माके ज्ञानके विषय होनेसे प्रमेयों में पढ़ागया और जानने में स्वतन्त्र होनेसे प्रमाता भी कहाता है ॥

७८–प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसंगः ॥ १७ ॥

यदि प्रमाण से (प्रत्यक्षादि) प्रमाणों की सिद्धि माने तो दूसरे प्रमाणों की सिद्धि माननी पड़ेगी; अनवस्था दोष आयेगा। जैसे कोई पूछे कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि अन्य प्रमाणों से हुई तो उन प्रमाणों की सिद्धि किससे हुई ? यदि उनकी सिद्धि दूसरोंसे हुई तो उनकी सिद्धि किससे ? इसी प्रकार कहतेर प्रलय तक अन्त न होगा।

७९–तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणान्तरासिद्धिवत् प्रमेयसिद्धिः ॥ १८ ॥

यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के ज्ञान के लिये प्रमाणान्तर न मानोगे तो (आत्मा के ज्ञान के लिये भी प्रमाण मानने की आवश्यकता न रहेगी) दूसरे प्रमाण की सिद्धि की भाँति प्रमेय की सिद्धि भी स्वयं हो जावेगी ॥

८०–न प्रदीपप्रकाशवत् तत्सिद्धेः ॥ १९ ॥

ऐसा मत कहो. दीपप्रकाश के समान उस की सिद्धि होजायगी। जैसे दीप का प्रकाश स्वयं दर्शनयोग्य होकर आप दृश्य पदार्थों के दर्शन का कारण होनेसे दृश्य और दर्शन का कारण भी कहा जाता है वैसे ही प्रमेय होकर भी किसी वस्तु के दर्शन का हेतु होनेसे वही प्रमाण भी हो सकता है। अर्थात् एक ही वस्तु प्रमाण और प्रमेय के नाम से अवस्था भेद के कारण व्यवहृत हो सकता है। इस से सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्षादिकों की सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणोँ ही से होती है, न कि दूसरे प्रमाणों से। इस प्रकार साधारणता से प्रमाणोँ की परीक्षा करके अब विशेषरूप से एक एक की परीक्षा की जाती है-

८१–प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात् ॥ २० ॥

पूर्वपक्ष–प्रत्यक्ष का लक्षण सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पूर्णरूप से नहीं कहागया क्योंकि-

८२—नात्ममनसोः सन्निकर्षाऽभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ २१ ॥

आत्मा और मन के संयोग न होने पर प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं होती ॥

८३—दिग्देशकालाकाशेष्वेवं प्रसङ्गः ॥ २२ ॥

इसी प्रकार दिशा, देश, काल, और आकाशमें भी प्रसङ्ग हुवा। (क्योंकि दिशा आदि में ही तो ज्ञान होता है, इसलिये ये भी प्रत्यक्ष के कारण कहाने चाहियें क्योंकि दिशादि को बचा नहीं सकते। जहां ज्ञान होता है, वहां ये अवश्य रहते ही हैं। फिर इनको कारण क्यों नहीं माना ?) ॥

८४—ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनोनाऽनवरोधः ॥ २३ ॥

उत्तरपक्ष-ज्ञान आत्मा का लिङ्ग होने से (उसका) त्याग मत समझो ॥

८५—तदयौगपद्यलिङ्गत्वाच्च न मनसः ॥ २४ ॥

एक काल में अनेक ज्ञानों का न होना मन का लिङ्ग है। (इस से मन का भी त्याग मत समझो) और एक बात यह भी है कि शयन अथवा दुश्चित्तेपन की अवस्था में इन्द्रिय और अर्थ का संयोग रहता है आत्मा और मन का संयोग नहीं। अर्थात् जब प्राणी समय नियत करके सोता है तब चिन्ताके कारण नियत समय पर जागता है और जब प्रबल शब्द और स्पर्श जगाने के कारण होंगे तब भी सोते पुरुष को इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से जागना होगा। वहां आत्मा और मन के संयोग की मुख्यता नहीं, किन्तु इन्द्रिय और अर्थ का संयोग ही मुख्य कारण है। क्योंकि उस समय आत्मा ज्ञान की इच्छा से मन को प्रेरणा नहीं करता। ऐसे ही जब इसका मन किसी दूसरे पदार्थ में लगा रहता है और सङ्कल्प होने से अन्य विषयों के जानने की इच्छा करता है, तब प्रयत्न से प्रेरणा करके मन को इन्द्रिय के साथ मिलाता है और उस विषय को जानता है। जब इस की इच्छा अन्य विषय के जानने की नहीं होती और एक ही विषय में मन लगा रहता है, तब भी बाह्य विषयों के प्रबल संयोग से ज्ञान उत्पन्न होजाता है। उस समय इन्द्रिय और अर्थ के संयोग की प्रधानता है। क्योंकि तब आत्मा ज्ञान की इच्छा न होने से मन को प्रेरणा नहीं करता। प्रधान होने के कारण इन्द्रिय और अर्थ के संयोग का ग्रहण करना चाहिये। गौण होने से आत्मा और मन के संयोग का ग्रहण करना उचित नहीं था ॥

इसी आशय को लेकर किन्हीं पुस्तकों में (तदयौ०) इस २४ वें सूत्र से आगे दो सूत्र अन्य भी पाये जाते हैं कि-

प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयोः संनिकर्षस्य पृथग्वचनम् ॥ (२५)

सुप्तव्यासक्तमनसां चेन्द्रियार्थयोः संनिकर्षनिमित्तत्वात् ॥ (२६)

अर्थ-इन्द्रियों और अर्थों (विषयों) के संयोगको पृथक् इसलिये कहागया है कि वह प्रत्यक्ष का निमित्त है (२५) ॥ तथा सोते और अन्यत्र दुश्चित्ते पुरुषोंको भी प्रत्यक्ष

का निमित्त इन्द्रियों और अर्थों का संयोग ही है (२६) परन्तु हमने इनको सूत्रों में इस कारण नहीं गिना कि वात्स्यायन भाष्यकार ने ये सूत्र नहीं माने, प्रत्युत अपने व्याख्यान में वह बात कहदी है जो कि इन सूत्रों में है ॥

इन्द्रियों और अर्थों का संयोग ही प्रत्यक्ष का मुख्य कारण है। इस में अन्य भी हेतु है कि—

८६-तैश्चापदेशो ज्ञानविशेषाणाम् ॥ २५ ॥

इन्द्रियों और अर्थों से ही विशेष ज्ञानों का व्यवहार किया जाता है। जैसे नाक से सूंघना आंख से देखना और जीभ से स्वाद लेना। गन्धज्ञान, रूपज्ञान और रस ज्ञान इत्यादि। इसलिये इन्द्रियों और अर्थोंके संयोग की ही प्रत्यक्षमें मुख्यता है ॥

८७-व्याहतत्वादहेतुः ॥ २६ ॥

पूर्व०-यह जो कहा कि „इन्द्रिय और अर्थ का सँयोग मुख्य है और आत्मातथा मन का संयोग प्रधान नहीं, क्योंकि शयनसमय में या किसी विषय में जब मन अत्यन्त आसक्त हो जाता है, ऐसी अवस्था में प्रबल इन्द्रिय अर्थ के सँयोगसे एका-एक ज्ञान होजाता है। वहां आत्मा जानने की इच्छा से मन को प्रेरणा नहीं करता, तौ भी ज्ञान हो ही जाता है"। बाधित होने से हेतु नहीं हो सकता। यदि किसी स्थल में आत्मा और मन के संयोग को ज्ञान का कारण न मानें तौ एक साथ कई ज्ञानों के न होने से जो मन की सिद्धि कही थी वह बाधित होजायगी। इस लिये आत्मा और मन का संयोग सब ज्ञानों का कारण है। यह अवश्य मानना ही चाहिये, तौ फिर भी आत्मा और मनके सँयोगका ग्रहण प्रत्यक्ष के लक्षणमें करनाचाहियेथा ॥

८८-नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ २७ ॥

उत्तर०-नहीं, क्योंकि (आत्मा और मन के सँयोग की कारणता का व्यभिचार नहीं है, केवल इन्द्रिय और अर्थके संयोग की) प्रधानता ली गई है। किसी विशेष अर्थ की प्रबलता से सोते और मन को विषयान्तर में अति आसक्ति के समय में एक दम ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है ॥

८९-प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धेः ॥ २८ ॥

पूर्व०-इन्द्रिय और अर्थके संयोगसे वृक्षादिके आकार का जो प्रत्यक्ष ज्ञानहोता है, यह 'अनुमान' में क्यों न गिना जावे क्योंकि एक अवयव के प्रत्यक्ष ज्ञान से वृक्ष का बोध होता है। जैसे धूम के देखने से अग्नि का अनुमान होता है, वैसे ही वृक्षके आगे के भाग को देखकर दूसरे भाग का अनुमान होता है। क्योंकि अवयवसमुदाय-रूप वृक्षहै। इस लिये सामने के भाग देखने से शेष भागों का जो ज्ञान होता है, वह अनुमान ही हुवा।

९०-न प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलम्भात् ॥ २९ ॥

उत्तर०-नहीं, क्योंकि जितने देश का ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष ही से हुवा है।

ज्ञान-निर्विषय नहीं होता, जितना अर्थ ज्ञान का विषय है, वह सब प्रत्यक्ष का विषय है। अन्य प्रकार से भी प्रत्यक्ष को अनुमान नहीं कह सकते क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष-पूर्वक होता है। परस्परसम्बन्धयुक्त अग्नि और धूम के देखने वाले को धूम के प्रत्यक्ष से अग्नि का अनुमान होता है। यह जो वृक्ष का ज्ञान हुवा सो इन्द्रियं और अर्थ के संयोग से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष ही है अनुमान नहीं॥

९१-न चैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात्॥ ३०॥

केवल एक देश ही का ज्ञान नहीं किन्तु (उन के सहचारी) अवयवी का भी ज्ञान होता है क्योंकि अवयवी भी विद्यमान है॥

९२-साध्यत्वादवयवि निसन्देहः॥ ३१॥

पूर्व०-(जो कहा कि अवयवी भी विद्यमान है उसका प्रत्यक्ष होता है यह ठीक नहीं क्योंकि) साध्य होने से अवयवी में संदेह है। अर्थात् जब तक अवयवों से भिन्न अवयवी सिद्ध न हो जाय तब तक यह कहना कि अवयवी का प्रत्यक्ष होता है, असङ्गत है॥

९३-सर्वाऽग्रहणमवयव्यसिद्धेः॥ ३२॥

उत्तर०-जो अवयवी को सिद्ध न मानोगे तो (द्रव्य गुण क्रिया जाति आदि) सब (किसी) पदार्थों का ज्ञान नहीं होगा॥

९४-धारणाकर्षणोपपत्तेश्च॥ ३३॥

तथा धारण और आकर्षण की उपपत्तिसे भी (अवयवी सिद्ध है)। अर्थात् एक अवयव के धारण करनेसे सबका धारण और एक देशके खींचने से सबका खिञ्चना। जो अवयवी भिन्न नहीं मानता उस से पूछना चाहिये कि "यह वस्तु एक है"। यह ज्ञान अभिन्न १ अर्थ को ग्रहण करता है अथवा अनेक को? यदि कहो कि अभिन्न १ अर्थको तो अर्थान्तर के मानने से अवयवी सिद्ध हुआ। यदि कहो कि अनेक अर्थों का ग्रहण करता है तो यह वाधित है। क्योंकि अनेक में एक बुद्धि कैसे हो सकती है। इस लिये अवयवी अवश्य मानना चाहिये॥

९५-सेनावनवद्ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम्॥३४॥

जैसे सेना के अवयव और बनके अवयवों में दूर से भेदके ज्ञान न होनेसेएक है, ऐसाज्ञान होता है ऐसेही परमाणु भी जब इकट्ठेहुए और भेद का ज्ञाननरहा तबएक है, ऐसीबुद्धि होनेमें क्या रोक होगी? यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सेना और बनके अङ्ग मनुष्यों और वृक्षों का प्रत्यक्ष होता है। इस लिये उन के समूह का भी प्रत्यक्ष होता है। परन्तु परमाणु अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, उन के समुदाय का प्रत्यक्ष क्योंकर होसकता है जब कि उन में से सब कोई अतीन्द्रिय हैं। इस लिये सेना वा बन का दृष्टान्त योग्य नहीं भिन्न अवयवी अवश्य मानना पड़ेगा और उसी का प्रत्यक्ष होता है॥ प्रत्यक्ष की परीक्षा पूरी हुई। अब अनुमान प्रमाण की परीक्षा की जाती है:—

९६--रोधोपघातसादृश्येभ्योऽव्यभिचारादनुमानमप्रमाणम् ॥३५॥

पूर्व०-रोध, उपघात और सादृश्य से व्यभिचार आता है, इस लिये अनुमान प्रमाण नहीं। जैसे नदी के चढ़ाव से ऊपर वर्षा होने का जो अनुमान किया था, वह ठीक नहीं क्योंकि नदी का चढ़ाव रोकने से भी हो सकता है । आगे किसी ने बांध बांध दिया तो नदी अवश्य फैलेगी ही । इस से ऊपर वर्षाका अनुमान मिथ्या होगया। बिलके फटने से भी चीटियां अण्डा लेकर चलती हैं । तब इस से होने वाली वर्षा का अनुमान यथार्थ न हुआ । ऐसे ही मनुष्य भी मोर के सा शब्द कर सकता है तो शब्द के सादृश्य से अनुमान मिथ्या हुआ । जैसे किसी ने मोर के शब्द को सुन कर मोर का अनुमान किया, पर शब्द तो मनुष्य ने किया था, इसलिये यह अनुमान ठीक न हुआ। उक्त कारणों से अनुमान का प्रमाणत्व नहीं हो सकता ॥

९७--नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात् ॥ ३६ ॥

उ०-नहीं; क्योंकि एक देश त्रास और सादृश्य से अर्थान्तर होता है । क्योंकि विशेषणयुक्त हेतु होता है, विना विशेषण हेतु नहीं हो सकता । पूर्व जल सहित वर्षा का जल, सोते का बड़े वेग से बहना, बहुत से फेन फल पत्ते काठ आदि के देखने से ऊपर हुई वर्षा का अनुमान होता है । बहुधा चींटियों के अण्डा लेकर चलने से होने वाली वर्षा का अनुमान किया जाता है. न कि एक आध चींटियों के झूंड देखने से । ऐसे ही जब मोर के शब्द का निश्चय होता है और यह पक्काज्ञान होता है कि यह शब्द मनुष्य ने नहीं किया तभी यथार्थ अनुमान होता है और जो भली भांति विचार किये विना झटपट साधारण हेतु से ही अनुमान कर बैठता है प्राय: उसी का अनुमान मिथ्या होता है । तो क्या यह अनुमान प्रमाण का दोष गिना जायगा ? कदापि नहीं, किन्तु यह दोष अनुमान करने वाले का ही माना जायगा ॥

अनुमान भूत भविष्यत् और वर्त्तमान (तीन) काल विषयक होताहै । यह कहा था; इस पर शङ्का करते हैं कि:-

९८--वर्त्तमानाऽभाव: पतत: पतितपतितव्यकालोपपत्ते: ।३७।

पूर्व०-वृक्षशाखा से गिरते हुवे फल का जो ऊपर का मार्ग है उस से युक्तकाल पतित (भूत) काल कहा जायगा और जो नीचेका मार्ग है वह पतितव्य (भविष्यत्) मार्ग हुवा, तद्युक्त पतितव्य काल कहावेगा । अब तीसरा मार्ग कोई नहीं रहा, जिस को वर्त्तमान कहें, इसलिये वर्त्तमान काल कोई है ही नहीं। यह सिद्ध होगया तब, अनुमान त्रिकाल विषयक कैसे हो सकता है ? तथा-

९९--तयोरप्यभावोवर्त्तमानाऽभावे तदपेक्षत्वात् ॥ ३८ ॥

वर्त्तमान के अभाव में उन (भूत भविष्यत) का भी अभाव है क्योंकि वर्त्तमान की अपेक्षा (निसबत) से भूत भविष्यत् बनते हैं ॥

१००--नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षासिद्धि: ॥ ३९ ॥

वर्त्तमान काल का अभाव माने तो परस्पर सापेक्ष अतीत (भूत) और अनागत

(भविष्यत्) की सिद्धि भी नहीं होसकती। जैसे कोई पूछे कि भूतकाल किसे कहते हैं तौ यही कहना पड़ेगा कि जो भविष्यत् से भिन्न है, वह भूत है। ऐसे ही जब भविष्यत् का लक्षण कोई पूछेगा तब यही कहना पड़ेगा कि जो भूत से अन्य है वह भविष्यत् है। इसी को अन्योन्याश्रय दोष कहते हैं अर्थात् एक की सिद्धि में दूसरे की अपेक्षा और दूसरे की सिद्धि में पहले की। ऐसे स्थान में दो में से एक की सिद्धि नहीं हो सकती ॥

१०१—वर्त्तमानाऽभावे सर्वाऽग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः ॥ ४० ॥

वर्त्तमान के अभाव में प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति से सब का (किसीका भी) ग्रहण नहीं होगा। इन्द्रिय और पदार्थ के मेल से जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। अविद्यमान वस्तु प्रत्यक्षका विषय नहीं होसकता। प्रत्यक्ष की असिद्धि होनेसे अनुमान और शब्द प्रमाण भी सिद्धि नहीं हो सकते। क्योंकि इन दोनों का प्रत्यक्ष सहायक है। जब सब प्रमाणों का लोप हुवा तब किसी वस्तु का ज्ञान न होगा। दो प्रकार से वर्त्तमान काल का ग्रहण होता है, कहीं तौ वस्तु की सत्तासे जैसे- द्रव्य है। और कहीं क्रिया की परम्परा से ; जैसे पकाता है, काटता है। एक अर्थ में अनेक प्रकार की क्रिया को परम्परा कहते हैं। जैसे बटलोई को चूल्हे पर धरना; उस में पानी डालना, लकड़ियों को सुधारना, अग्नि का जलाना, करछी का चलाना, मांड का पसाना और नीचे धरना आदि पाक क्रिया कहाती हैं; ऐसे ही कुल्हाड़ी को उठा कर फिर २ काठ पर मारने को छेदन क्रिया कहते हैं। यही क्रिया परम्परा आरम्भ से लेकर जब तक पूरी न होगी तब तक „ पकाता है; काटता है " यह व्यवहार होता है। इसके अधार काल को वर्त्तमान कहते हैं ॥

१०२—कृततकर्त्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथा ग्रहणम् ॥ ४१ ॥

कृतता और कर्त्तव्यता की उपपत्ति से भी उभयथा ग्रहण होता है। जब(क्रिया) परम्परा का आरम्भ नहीं हुवा पर आगे करने की इच्छा है यही भविष्यत् काल हुवा। जैसे „ पकावेगा "। (क्रियापरम्परा के पूरे होने का नाम अतीतकाल है) जैसे „ पकाया "। और क्रियापरम्परा का आरम्भ तो हुवा पर पूरी नहीं हुई; इसी को वर्त्तमान कहते हैं। इस प्रकार क्रिया में तीन काल का व्यवहार होता है। क्रिया की पूर्णता = कृतता; करनेकी इच्छा = कर्त्तव्यता और विद्यमान = क्रियमाण कही जातीहैं। इसलिये वर्त्तमान काल अवश्य मानना चाहिये। अनुमान की परीक्षा पूरी हुई, आगे उपमान की परीक्षा की जाती है कि:-

१०३--अत्यन्तप्रायैक देशेसाधर्म्यादुपमानाऽसिद्धिः ॥४२॥

अत्यन्त सादृश्य से उपमान प्रमाण की सिद्धि नहीं हो सकती (क्योंकि „ जैसी गाय वैसी गाय " ऐसा व्यवहार नहीं) बहुत सादृश्य से भी उपमान की सिद्धि नहीं होती (जैसा बैल वैसा भैंसा होता है यह व्यवहार नहीं) कुछेक तुल्यता होने से भी उपमान सिद्ध नहीं हो सकता (क्योंकि सभी की सब से उपमा नहीं दी जाती। कुछ तुल्यता तो सभी की सब के साथ हो सकती है) इसलिये उपमान प्रमाण सिद्ध नहीं होता। इसका उत्तरः—

१०४-प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः ॥४३॥

प्रसिद्ध समानधर्मता द्वारा उपमान की सिद्धि होने से उक्त दोषकी उपपत्तिनहीं हो सकती। अर्थात् साध्य के सम्पूर्णत्व प्रायिकत्व वा थोड़े पन का आश्रय लेकर उपमान प्रमाण प्रवृत्त होता हो सो बात नहीं हैं, किन्तु प्रसिद्ध तुल्यता के आश्रय से अनुमान की प्रवृत्ति होती है। जहां यह समानधर्म मिलता है वहां उपमान का निषेध नहीं हो सकता। इस लिये उक्त दोष नहीं आता॥

१०५-प्रत्यक्षेणाऽप्रत्यक्षसिद्धेः ॥४४॥

पूर्व०-(अच्छा तो) प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की सिद्धि होने से (उपमान अनुमान ही के अन्तर्गत हो जायगा। जैसे प्रत्यक्ष धूएं के देखने से अप्रत्यक्ष अग्नि का अनुमान होता है, वैसे ही गौ के प्रत्यक्ष देखने से अप्रत्यक्ष गवय का अनुमान हो जायगा। इस लिये यह अनुमान प्रमाण से पृथक् उपमान प्रमाण नहीं हो सकता)॥

१०६-नाऽप्रत्यक्षेगवयेप्रमाणार्थमुपमानस्यपश्यामइति ॥४५॥

उ०-नहीं, क्योंकि अप्रत्यक्ष गवय में उपमान प्रमाण का अर्थ हम नहीं देखते हैं। अर्थात् जब गाय के देखने वाले को उपमान का उपदेश किया जाता है और वह गाय के समान पशु को देखता है तब उस को यह ज्ञान होता है कि इस प्राणी का नाम गवय है। ऐसा अनुमान में नहीं होता। अनुमान बिना देखे वस्तु का होता है। यही अनुमान और उपमान में विशेष है॥

१०७-तथेत्युपसंहारादुपमानासिद्धेर्नाविशेषः॥ ४६ ॥

„वैसा ही गवय होता है" ऐसे समान धर्म के उपसंहार से उपमान सिद्ध होता है। ऐसा अनुमान में नहीं होता। अनुमान और उपमान में यह भी विशेष समझना चाहिये। उपमान परीक्षा पूर्ण हुई अब शब्द परीक्षा करते हैं कि-

१०८-शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात ॥ ४७ ॥

पू०-शब्द प्रमाण भी अनुमान ही है (भिन्न प्रमाण नहीं) क्योंकि शब्द का अर्थ उपलब्ध न होने से अनुमान के योग्य है। जैसे प्रत्यक्षसे अज्ञात साध्यका ज्ञात हेतु से पीछे अनुमान होता है, ऐसे ही ज्ञात शब्द से पीछे अज्ञात अर्थ का ज्ञान होता है। इस लिये शब्द प्रमाण भी अनुमान ही है॥ तथा-

१०९-उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात ॥ ४८ ॥

ज्ञान की प्रवृत्ति दो प्रकार से नहीं होती। इस से भी शब्द प्रमाण अनुमान ही है। प्रमाणान्तर में उपलब्धि दो प्रकार से होती हैं। अनुमान में प्रवृत्ति जिस प्रकार से होती है उससे भिन्न प्रकार से उपमान में होती है अर्थात् अनुमान का फल और शब्द प्रमाण का फल एक ही प्रकार का है, भिन्न नहीं॥

११०-सम्बन्धाच्च ॥ ४९ ॥

परस्पर सम्बन्धयुक्त शब्द और अर्थके सम्बन्ध की प्रसिद्धि होने से शब्द के ज्ञान

से अर्थ का ज्ञान होता है। इस लिये भी शब्द प्रमाण भिन्न नहीं, किन्तु अनुमान में गिन लिया जावे। क्योंकि सम्बन्ध वाले साध्यसाधन सम्बन्ध के ज्ञान से साधन के ज्ञात होने पर साध्य का ज्ञान होता है॥

१११-आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दार्थसम्प्रत्ययः॥ ५०॥

उ०-प्रामाणिक लोगों के उपदेशसामर्थ्य से शब्द से अर्थ का बोध है। मुक्ति आदि अप्रत्यक्ष पदार्थों का ज्ञान केवल शब्द से नहीं होता किन्तु सत्यवक्ताओं का यह शब्द है, इस लिये अर्थ का बोध होता है। ऐसा अनुमान में नहीं। यही शब्द और अनुमान में भेद है और यह जो कहा कि सम्बन्ध युक्त शब्द और अर्थ के ज्ञान से बोध होता है यह भी ठीक नहीं क्योंकि:-

११२-प्रमाणतोऽनुपलब्धेः॥ ५१॥

प्रमाण से प्रतीति नहीं होती। जिस इन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है, उस इन्द्रिय से अर्थ का ग्रहण नहीं हो सकता। जैसे कानसे आप्तोपदिष्ट शब्द द्वारा जाना कि भूमण्डल पर कुरुक्षेत्र लङ्का लण्डन आदि नगर वा देश हैं, सो यह ज्ञान कान का विषय नहीं हो सकता॥

११३-पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाऽभावः॥ ५२॥

क्योंकि पूरण, प्रदाह और पाटन की उपलब्धि नहीं होती इससे भी सम्बन्धका अभाव है। अर्थात् जो शब्द का अर्थकेसाथ व्याप्ति रूप सम्बन्ध होता तो अन्न शब्द के उच्चारण से (पूरण) मुख भर जाता। अग्नि शब्द के बोलने से (प्रदाह) जलन होती। खड्ग शब्द के कहने ही से मुख के खंड २ (पाटन) हो जाते। इससे सिद्ध हुआ कि शब्द अर्थ का व्याप्तिरूप सम्बन्ध नहीं है॥

११४-शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः॥ ५३॥

पूर्व०-शब्द से अर्थके ग्रहण की व्यवस्था के देखने से व्यवस्था के कारण शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का अनुमान किया जाता है। जो सम्बन्ध न होता तो सब शब्दों से सब अर्थोंका बोध हो जाता, इस लिये सम्बन्ध का खंडन नहीं होसकता॥ इस का समाधानः-

११५-न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य॥ ५४॥

उ०-शब्द और अर्थ की व्यवस्था सङ्केत से है। अतः शब्द अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं। (इस शब्द का यह अर्थ है:- यह जो वाच्य और वाचक के नियमका निश्चय है, इसी को समय वा सङ्केत कहते हैं। इस के ज्ञान से शब्द के सुनने से अर्थ का बोध होता है और जो यह सङ्केत ज्ञात न हो तो शब्द सुनने से भी अर्थ का बोध कभी नहीं होता जैसे किसी ने सङ्केत किया कि "पङ्कज" शब्दसे "कमल" समझना। अब जिस मनुष्यको यह सङ्केत ज्ञात होगा, उसीको पङ्कज शब्दके सुनने से कमल अर्थका ज्ञान होगा और जिसको इस सङ्केत का ज्ञान नहीं, उसको पङ्कज के शब्द सुनने से कमल अर्थ का ज्ञान नहीं होता) तथा-

११६–जातिविशेषे चानियमात् ॥ ५५ ॥

किसी विशेष जाति में नियम न होने से भी (शब्द से अर्थ का ज्ञान सांकेतिक है। स्वाभाविक नहीं) ॥ क्योंकि आर्य और म्लेच्छ अपनी इच्छा के अनुसार अर्थके ज्ञान के लिये शब्द का प्रयोग करते आते हैं । जो शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक होता तो इच्छा के अनुसार शब्द का प्रयोग कभी नहीं हो सकता । जैसे प्रकाश से रूप का ज्ञान होना स्वाभाविक है, अर्थात् सब के लिये एक सा है। प्रकाश से सब किसी को रूप का ज्ञान होता है। ऐसा शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं। आर्यभाषा (समय वा संकेत) में राम शब्दका जो अर्थ है, वह म्लेच्छ भाषा में नहीं। तथा एक भाषामें भी सब प्रकरणोंमें किसी शब्दका एकही अर्थ माननेका नियम नहीं॥

११७–तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ॥ ५६ ॥

पूर्व०-मिथ्यात्व, व्याघात और पुनरुक्त दोषसे शब्दकी प्रमाणता नहीं होसक्ती। जैसे लिखा है कि जिसको पुत्र की इच्छा हो वह पुत्रेष्टि नाम यज्ञ करे परन्तु कहीं २ उक्त यज्ञ करने से भी पुत्र की उत्पत्ति नहीं देखते। इससे अनुमान होता है कि जिस वाक्यका दृष्ट फल है, उसमें मिथ्यात्व देखा गया तो जिस वाक्यका फल अदृष्ट है, जैसे „ स्वर्ग की इच्छा वाला अग्निहोत्र करे, ” यह बात भी मिथ्या ही होगी। व्याघात दोष से भी शब्द प्रमाण नहीं हो सकता। जैसे एक स्थान में कहा कि सूर्य के उदय होने पर होम करना चाहिये, फिर अन्यत्र कहा कि सूर्योदय से पहिले होम करना चाहिये। ऐसे ही उदय काल में होम करने से दोष और विना उदय काल में होम करने में भी दोष कहा। यह दोनों बात परस्पर विरुद्ध होने से बाधित हैं । इस को व्याघात दोष (अपनी बातका आप ही खण्डन करना) कहते हैं। उक्त दोषसे दो में से एक अवश्य मिथ्या होगा। ऐसे ही अभ्यास में तीन वार पहिली ऋचा बोलना और पिछली भी तीन वार यह पुनरुक्ति दोष आता है। और जिस में पुनरुक्ति हो, वह मतवाले का वाक्य कहाता है। इसलिये शब्द अप्रमाण हुआ ॥

११८–न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ॥ ५७ ॥

उ०-नहीं, कर्मकर्त्ता और साधन के वैगुण्य से। जब ये तीनों यथार्थ होंगे तौ निश्चय फल की सिद्धि होगी। इसमें कुछ सन्देह नहीं । जैसे कर्ता मूर्ख अथवा दुष्ट आचरण वाला हुआ तो यह कर्ता का वैगुण्य (दोष) हुआ, मिथ्या प्रयोग किया तो यह कर्म का वैगुण्य कहावेगा। ऐसे ही जो होमादि का द्रव्य अच्छा न हुआ तो यह साधन वैगुण्य हुआ। इन तीनों में से एक भी दुष्ट होगा तो फल की सिद्धि न होगी। क्योंकि लोक में भी गुणके योग से ही कार्य की सिद्धि देखने में आती है। यह लौकिक से पृथक् नहीं। इसलिये „ अनृत = मिथ्यात्व ” दोष देना उचित नहीं ॥

११९–अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात् ॥ ५८ ॥

(होम करने में जो व्याघात दोष दिया था उस का उत्तर इस सूत्र से देते हैं)

अङ्गीकार करके कालका भेद करने पर दोष कहा है। इसलिये विधिके भ्रष्ट होनेमें यह निन्दा का कथन है, किन्तु व्याघातरूप दोष नहीं। अर्थात् शास्त्रमें जहां अनेक पक्ष हैं, उनमें किसी एक पक्ष को स्वीकार करले, फिर उस का त्याग करना अनुचित है। यह तात्पर्य है ॥

१२०—अनुवादोपपत्तेश्च ॥ ५९ ॥

(अभ्यासमें जो पुनरुक्त दोष दिया था, वह भी यथार्थ नहीं) क्योंकि अनुवाद की उत्पत्ति होनेसे। व्यर्थ अभ्यास पुनरुक्त कहाताहै और सार्थक अभ्यासको अनुवाद कहते हैं। तीन वार पहिली ऋचा पढ़नी और तीनवार पिछली बोलनी। यह अभ्यास सार्थक होनेसे अनुवाद है क्योंकि प्रथम और अन्त्यके तीन वार पढ़ने से सामिधेनियें की सँख्या पूरी होती है। सामिधेनि पन्द्रह होनी चाहियें तीन २ बार पढ़े तो सँख्या न्यून होजाय। इसलिये सार्थक होनेसे यह अभ्यास अनुवाद कहा जाएगा, पुनरुक्त नहीं ॥

१२१—वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥ ६० ॥

वाक्य विभाग के अर्थ ग्रहण से भी शब्द प्रमाण है क्योंकि लोक में शिष्ट लोग विधि अनुवाद आदि वाक्यों का विभाग करते हैं और अनुवाद वाक्य को सार्थक मानते हैं वैसे ही शास्त्र में भी अनुवाद वाक्य सार्थक माने जाते हैं) ॥

१२२—विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥ ६१ ॥

(क्योंकि शास्त्रीय वाक्य तीन प्रकार से काम में लाये गये हैं) विधि वाक्य, अर्थवादवाक्य और अनुवादवाक्य। इनके लक्षण क्रम से आगे लिखते हैं कि:—

१२३—विधिर्विधायकः ॥ ६२ ॥

जो वाक्य विधायक (आज्ञा करने वाला) होता है, उसे विधि वाक्य कहते हैं। जैसे-स्वर्ग की इच्छा वाला अग्निहोत्र करे ॥

१२४—स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ ६३ ॥

स्तुति, निन्दा, परकृति और पुराकल्प; यह (चार प्रकार का) अर्थवाद है ॥ विधि वाक्य के फल कहने से प्रशंसा को स्तुति कहते हैं। क्योंकि फल की प्रशंसा सुनने से प्रवृत्ति होती है। जैसे देवों ने इस यज्ञ को करके सब को जीता। इस यज्ञ के करने से सब कुछ प्राप्त होता है इत्यादि। अनिष्ट फल के कथन को निन्दा कहते हैं। यह निन्दित कर्मों के छोड़ने के लिये की जाती है। जैसे यज्ञों के बीच में ज्योतिष्टोम पहिला है, इसको न करके जो अन्य यज्ञ करता है, वह गढ़े में पड़ता है। और जो वाक्य मनुष्यों के कर्मों में परस्पर विरोध दिखावे उसे परकृति कहते हैं। इतिहासयुक्त विधि को पुराकल्प कहते हैं। जैसे ब्राह्मणों ने सामस्तोम की स्तुति की इस लिये हम भी यज्ञका विस्तार करें। पहिले शिष्ट लोग ऐसा करते आये वा कहते आये हैं इसको ऐतिह्य कहते हैं। अर्थ का कहना अर्थवाद है ॥

१२५—विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ६४ ॥

१ विधि और २ विधि से जो विधान किया गया, उन का अनुवचन=अनुवाद कहाता है । १ पहिला शब्दानुवाद और २ दूसरा अर्थानुवाद कहाता है । विहित का अनुवाद करने का प्रयोजन यह है कि स्तुति निन्दा अथवा विधिका शेष, ये सब जो विहित हैं, उसके विषय में किये जावें । लोक में भी तीन ही प्रकार के वाक्य देखने में आते हैं । जैसे अन्न पकाओ, यह विधि वाक्य कहाता है । आयु तेज बल सुख और फुरती यह सब अन्न में विद्यमान हैं । वह अर्थवाद वाक्य हुआ क्योंकि विधि वाक्य में अन्न पकाने की आज्ञा थी और इस से अन्न की स्तुति बोधित हुई । आप पकाइये, पकाइये शीघ्र पकाइये । हे प्यारे ! पकाओ । यह अनुवाद वाक्य कहाते हैं क्योंकि विधिवाक्य से जो विधान किया गया, उसी का अनुवचन इस में है । जैसे लोक में वाक्यों का अर्थ ज्ञान विभाग से होता है और वह प्रमाण समझे जाते हैं ऐसे ही विभाग से अर्थ ज्ञान होनेके कारण शास्त्रीय (शब्द प्रमाणस्थ) वाक्यों का भी प्रमाणत्व समझो ॥

१२६-नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः ॥ ६५ ॥

शङ्का-पुनरुक्त (अशुद्ध) और अनुवाद (शुद्ध) में विशेष नहीं क्योंकि दोनों ही में (चरितार्थ) शब्द के अभ्यास की उपपत्ति है । (बार २ पढ़ने से दोनों ही दुष्ट हैं) ॥

१२७-शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः ॥ ६६ ॥

उक्त पूर्वपक्ष का उत्तर- पुनरुक्त और अनुवाद में विशेष नहीं यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अर्थवान् अभ्यास को अनुवाद और अर्थरहित (व्यर्थ) अभ्यास को पुनरुक्त कहते हैं यही भेद है ॥ जैसे किसी ने कहा "जाओ" फिर कहा "जाओ-जाओ" अर्थात् शीघ्र जाओ । देर मत करो । यह अभ्यास सार्थक है, व्यर्थ नहीं ॥

प्रश्न-तो क्या शब्दके प्रमाणत्व दूर करने वाले हेतुओंके खंडन करने ही से शब्द का प्रमाणत्व सिद्ध हो जायगा ? नहीं, और भी कारण है कि—

१२८-मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ६७

उत्तर-मन्त्र और आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान शब्द का प्रामाण्य है, आप्त के प्रमाणत्व से । जैसे मन्त्रों के जप से उन का फल जैसा का तैसा देखने में आता है, ऐसे ही आयुर्वेद में जिस रोग की निवृत्ति के लिये जो उपाय लिखे हैं उन का फल भी वैसा ही देखने में आता है जैसा कि शास्त्र में लिखा है । आप्त उन्हें कहते हैं जो यथार्थवक्ता, दूसरे के हित की इच्छा करने वाले, प्राणिमात्र पर दयावान, धर्म के तत्त्व जानने वाले हों । ऐसे लोग प्राणियों के सुख के लिये त्यागने योग्य वा ग्रहण करने योग्य पदार्थों का उपदेश करते हैं । जैसे आप्तों के उपदेश से दृष्ट फल वाले वैद्यक शास्त्र का प्रमाणत्व सिद्ध होता है, ऐसे ही आप्तलोगों के उपदेश होने से सत्य शास्त्रों का भी प्रामाण्य मानना चाहिये और जो दृष्ट फल वाले वैद्यक आदि के कर्त्ता ऋषि मुनि प्रामाणिक लोग हैं, वही वेदादि शब्द के जानने वाले और व्याख्यान करने वाले हैं । इस से भी वेदादि शब्द का प्रमाणत्व सिद्ध होता है ।

जैसे बटलोई में एक चावल के टटोलने से सब पक गये वा अभी कच्चे हैं, इस का ज्ञान हो जाता है वैसे ही दृष्ट फल वाले वाक्य के प्रमाणत्व से अदृष्टार्थक वाक्य का भी प्रमाणत्व अनुमान से सिद्ध है ॥

* इति प्रथममाह्निकम् *

अथ द्वितीयमाह्निकम्

१२९–नचतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥ १ ॥

चार ही प्रमाण नहीं क्योंकि ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये भी प्रमाण हैं ॥ ऐतिह्य=इतिहासप्रसिद्ध को कहते हैं। जैसे श्री रामचन्द्र जी युधिष्ठिरादि हुवे। इसमें ऐतिह्य प्रमाण है। एक अर्थ के कहने से दूसरे अर्थ की प्राप्ति होजाय, इसे अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे किसी ने कहा कि यह देवदत्त मोटा है और दिन को नहीं खाता। बस इतने कहने मात्र से रात्रि का भोजन अर्थ से सिद्ध हो जायगा क्योंकि विना भोजन के मोटा नहीं हो सकता। सम्भव-जैसे मण में पँसेरी और पँसेरी में सेर अर्थात् मण पँसेरी के विना नहीं बन सकता तो मण के होने से पँसेरी का होना सम्भव प्रमाण से जाना जायगा। कारण के अभाव से कार्यके अभाव का ज्ञान अभाव प्रमाण से होता है ॥

१३०–शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्ति-सम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥२॥

ऐतिह्य का शब्द प्रमाण में; अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव का अनुमान में अन्तर्भाव होने से (प्रमाण चार ही हैं)। चतुष्ट्व का प्रतिषेध नहीं हो सकता क्योंकि ऐतिह्य=इतिहास भी आप्तोपदिष्टहोने से प्रमाण हैं। तथा प्रत्यक्ष से संबद्ध अप्रत्यक्ष का ज्ञान अनुमान कहाता है। देवदत्त का मोटापन जो प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, इस से अप्रत्यक्ष रात्रि के भोजन का ज्ञान अनुमान से हो जायगा। जब कहा कि देवदत्त मोटा है और दिन में नहीं खाता तब निःसन्देह रात्रि में खाता होगा, इस बात का अनुमान होजायगा क्योंकि विना भोजन मोटापन नहीं होता। सम्भव प्रमाण से मण में पंसेरी का ज्ञान होता है, यह भी अनुमान ही है क्योंकि पंसेरियों के समुदायको मण कहते हैं और विना अवयवों के अवयवी नहीं रह सकता तौ जब अवयवी विद्यमान है, तब उसके अवयवों का ज्ञान अनुमान से हो, इस में क्या प्रतिबन्ध है? ऐसे ही कारण के अभाव से कार्य का अभाव अनुमान ही से ज्ञात हो जायगा, पृथक् प्रमाण मानना आवश्यक नहीं। इतनेसे यह सिद्ध होगया कि ऐतिह्य आदि प्रमाण तो हैं परन्तु पृथक् प्रमाण नहीं, पहिले जो प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाण कहे हैं, उन्हीं में इनका अन्तर्भाव है ॥ अब अगले सूत्र से अर्थापत्ति का प्रमाणत्व उड़ाते हैं कि:-

१३१—अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् ॥ ३ ॥

पू०—अनैकान्तिक (सव्यभिचार) होने से अर्थापत्ति प्रमाण नहीं। जैसे किसी ने कहा कि मेघों के न रहते वर्षा नहीं होती तब अर्थ से सिद्ध हुआ कि मेघों के रहने से वर्षा होती है। यह अर्थापत्ति प्रमाण का फल है। पर कभी २ मेघों के रहते भी वृष्टि नहीं होती, इस लिये अर्थापत्ति को व्यभिचार से प्रमाणत्व नहीं हो सकता ॥

१३२—अनर्थापत्तावर्थापत्यभिमानात् ॥ ४ ॥

उ०—अर्थापत्ति में व्यभिचार नहीं आता, अनर्थापत्ति में अर्थापत्ति के अभिमान से। अर्थात् कारणके अभावमें कार्य की उत्पत्ति नहींहोती। इस वाक्यसे विरोधी अर्थ कारण के विद्यमान रहते ही कार्य उत्पन्न होता है। यह सिद्ध हो जाता है। क्यों कि अभाव का विरोधी भाव है। इस लिये कारण की विद्यमानता में कार्य का होना कारण की विद्यमानता का व्यभिचार नहीं है। क्यों कि यह निश्चित है कि कारण के न रहते कार्य की उत्पत्ति कभी नहीं होती। इसलिये व्यभिचार नहीं है। और जो कारण के विद्यमान रहते किसी निमित्त के प्रतिबन्ध से कार्य न हो तो यह कारण का धर्म है, अर्थापत्ति का प्रमेय नहीं। अर्थापत्ति का प्रमेय तो इतने ही है कि कारण के विद्यमान रहते ही कार्य होता है। इससे यह बात सिद्ध होगई कि अनर्थापत्ति में अर्थापत्ति का अभिमान कर पूर्वपक्षकारने निषेध किया है ॥ तथा—

१३३—प्रतिषेधाऽप्रामाण्यं चानैकान्तिकत्वात् ॥ ५ ॥

" अर्थापत्ति प्रमाण नहीं व्यभिचार होने से " यह निषेध वाक्य है। इस से अर्थापत्ति के प्रमाणत्व का खन्डन होता है, न कि अर्थापत्ति की सत्ता का। अतः यह निषेध भी अनैकान्तिक (व्यभिचारी) हुआ तो अप्रामाणिक से किसी वस्तु का खडन नहीं हो सकता क्यों कि जो स्वयं अप्रमाण है, वह दूसरे का निषेध क्यों कर कर सकेगा। अथवा—

१३४—तत्प्रामाण्ये वा नार्थापत्त्यऽप्रामाण्यम् ॥ ६ ॥

प्रतिषेध का प्रामाण्य होतो अर्थापत्तिका भी अप्रमाणत्व सिद्ध नहीं होसकता। क्योंकि कारण की विद्यमानता में कार्य के होनेसे अर्थापत्ति का भी व्यभिचार विषय है। इस का सारांश यह है कि जो कहीं व्यभिचार आने पर भी निषेध को प्रमाण मानो तो अर्थापत्ति प्रमाण क्यों नहीं। इतने से अर्थापत्ति का प्रमाणत्व सिद्ध किया। अब अभाव के प्रमाणत्व में शङ्का समाधान हैं कि—

१३५—नाऽभावप्रामाण्यं प्रमेयाऽसिद्धेः ॥ ७ ॥

पू०—अभाव का प्रमाणत्व नहीं, प्रमेय के असिद्ध होने से। क्यों कि जिस का प्रमेय सिद्ध नहीं, वह प्रमाण किस काम का। इस लिये उस का मानना व्यर्थ है ॥

१३६—लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वाद-ऽलक्षितानां तत्प्रमेय सिद्धेः ॥ ८ ॥

उ०-" प्रमेय के असिद्ध होने से अभाव का प्रमाणत्व नहीं " इस का खण्डन करते हैं कि-प्रमेय सिद्ध होने से अभाव प्रमाण है। जैसे कई वस्त्र चिन्ह वाले और कई एक बिना चिन्ह के हैं और एक ही स्थान में धरे हैं. अब किसी मनुष्य से कहा कि उन वस्त्रों में से बिना चिन्ह के वस्त्र ले आ, तो वह जिन वस्त्रों में चिन्ह का अभाव देखेगा, उन्हीं को ले आवेगा तो लक्षणोंके अभावसे ज्ञानहुआ और जो ज्ञानका हेतु है वह प्रमाण कहाता है। इस लिये अभाव प्रमाण है ॥

१३७-असत्यर्थे नाऽभाव इति चेन्नान्यलक्षणोपपत्तेः ॥ ९ ॥

(जहां पहिले होकर फिर कुछ न रहे वहां उसका अभाव कहा जाता है, जैसे किसी स्थान में पहिले घट था और फिर वहां से हटा लिया तो वहां घट का अभाव हो गया। बिना लक्षण वाले वस्त्रों में पहिले ही लक्षण न थे, इस लिये उन में लक्षणाऽभाव सिद्ध नहीं) यह कहो तो ठीक नहीं क्यों कि जैसे लक्षण युक्त वस्त्रों में लक्षणों की उपपत्ति देखते हैं वैसे ही लक्षण रहितों में लक्षणों के अभाव को देख कर वस्तु को जान लेते हैं ॥

१३८-तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः ॥ १० ॥

पू०-लक्षण वाले वस्त्रों में जो लक्षण विद्यमान है उन लक्षणों का अलक्षितों में अभाव कहना हेतुशून्य है क्योंकि जो विद्यमान है उस का अभाव कैसा ? क्यों कि लक्षितों के लक्षण अलक्षितों में उठ कर थोड़ा ही चले जाते। बस लक्षितों में लक्षणों का भाव है ही, और अलक्षितों में पहिले ही से लक्षण नहीं, अतः अभाव कहना नहीं बनता ॥

१३९-न लक्षणावस्थितापेक्षसिद्धेः ॥ ११ ॥

उ०- हम यह नहीं कहते कि जो लक्षण विद्यमान हैं उन का अभाव किन्तु कितनों ही में लक्षण हैं और कइयों में नहीं हैं, अब जिन में लक्षणों को नहीं देखते उन में लक्षणाऽभाव से अपेक्षासिद्ध वस्तु को जान लेते हैं ॥

१४०-प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च ॥ १२ ॥

अभाव दो प्रकार का होता है, एक तो उत्पत्ति होने के पहले, जैसे जब तक घट उत्पन्न नहीं हुआ तब तक उस का अभाव है और दूसरा जब कोई वस्तु नष्ट हो जाता है तब उस का अभाव होता है। लक्षण रहित वस्त्रों में पहिले प्रकार का अभाव सिद्ध है ॥

शब्द के प्रमाणत्व में " आप्तोपदेश " विशेषण है इससे शब्द का अनाप्तोपदिष्ट और आप्तोपदिष्ट होना इन दो भेदों से ज्ञात होता है कि शब्द अनेक प्रकार के होते हैं, उसमें सामान्यरूप से विचार किया जाता है कि शब्द नित्य है वा अनित्य ॥

१४१-विमर्शहेत्वनुयोगे च विप्रतिपत्तेः संशयः ॥ १३ ॥

शब्द-आकाश का गुण, व्यापक, नित्य, और अभिव्यक्ति धर्मवाला अर्थात् क्रिया से शब्द का केवल आविर्भाव होता है, शब्द उत्पन्न नहीं होता। ऐसा कोई कहते हैं।

कोई गन्ध आदि गुणों का सहचारी, द्रव्य में प्रविष्ट, अभिव्यक्तिधर्मवान् मानते हैं। शब्द आकाश का गुण उत्पत्ति विनाश वाला है कइयों का यह मत है और कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि शब्द महाभूतों के क्षोभ से उत्पन्न होता है, किसी के आश्रित नहीं, उत्पत्ति विनाशवान् है। इस लिये सन्देह होता है कि तो फिर सिद्धांत क्या है ? यही सिद्धान्त है कि "शब्द अनित्य है" इसके हेतु अगले सूत्र में कहते हैं कि–

१४२–आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात्कृतकवदुपचाराच्च ॥ १४ ॥

शब्द–आदिमान् होने इन्द्रियों का विषय होने और बनाईहुई वस्तुओं के समान शब्द में व्यवहार होने से अनित्य है॥ जो आदि वाले पदार्थ हैं, अनादि नहीं हैं वे नित्य नहीं हैं, शब्द भी सादि होने से अनित्य है। दूसरे सँयोगजनित कार्य पदार्थ इन्द्रियों का विषय होते हैं, नित्यकारण पदार्थ अतीन्द्रिय होते हैं। बस शब्द इन्द्रिय विषय होने से अनित्य हुवा। तीसरे जैसे घड़ा कपड़ा आदि बनाये जाते हैं वैसे शब्द भी बोल कर बनाया हुवा कहा जाता है इस लिये भी शब्द अनित्य हुवा॥

१४३–न घटाभावसामान्य नित्यत्वात् नित्येष्वनित्यवदुपचाराच्च॥१५॥

पूर्वपक्ष--नहीं, क्यों कि घटाऽभाव के नित्यत्व से और नित्यों में भी अनित्य के तुल्य उपचार होने से व्यभिचार आता है। इस लिये उक्त हेतुओं से शब्द का अनित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे कहा था कि आदिमान् होने से शब्द अनित्य है, यह ठीक नहीं, क्यों कि घटाऽभाव भी आदिमान् है। जब तक घट विद्यमान है तब तक उस का अभाव नहीं और जब घट फूट गया तब उस का अभाव हो गया, यह घटाऽभाव मिट्टीके पृथक् २ हो जानेसे उत्पन्न होताहै और आगे सर्वदा अभाव रहेगा इस लिये नित्य है, पर आदिमान् है। जो कहा था कि इन्द्रिय विषय होने से शब्द अनित्य है, इस में भी व्यभिचार है क्यों कि घटत्व पटत्व और ब्राह्मणत्व आदि जातियों का भी ग्रहण इन्द्रियों से ही होता है, पर जाति नित्य है; यह सिद्धान्त है, तो इन्द्रिय विषयत्व में भी व्यभिचार आगया। और जो कृतकवत् उपचार दिखलाया था, उस में भी व्यभिचार है क्यों कि नित्यों में भी अनित्यत्व के सा उपचार किया जाता है। जैसे वृक्ष का प्रदेश, कम्बल का स्थान, यह व्यवहार होता है वैसे ही-- आकाश का प्रदेश आत्मा का स्थान; यह व्यवहार भी होता है। वास्तव में आकाश का प्रदेश (छोर) वा आत्मा का स्थान विशेष नहीं है पर कहने में आता है इसलिये उक्त हेतु भी ठीक नहीं॥

१४४–तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभागादव्यभिचारः ॥ १६ ॥

उ०--तत्व (परमार्थिक) और भाक्त (गौण) के भेद (विवेक) से व्यभिचार नहीं आता। नित्य वही है जिसकी कभी उत्पत्ति और विनाश न हो जो सब काल में एक रूप से विद्यमान हो जैसे आत्मा आकाश आदि पदार्थ हैं। यथार्थ नित्यत्व

इन्हींमें है। घटाऽभाव में उक्तप्रकारका नित्यत्व नहींहै क्योंकि यह घटाऽभाव उत्पत्ति॰ मान् है। इस लिये इस का नित्यत्व काल्पनिक है, तात्त्विक नहीं। जिस प्रकार का शब्द है, इस प्रकार का कोई कार्य्य नित्य देखने में नहीं आता, इस लिये व्यभिचार नहीं है ॥

१४५—सन्तानानुमानविशेषणात ॥ १७ ॥

शब्द में सन्तान (परम्परा) के अनुमान विशेषण से भी। शब्द अनित्य ही है। इन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है, केवल इसी लिये शब्द को अनित्य नहीं कहते हैं किन्तु इन्द्रिय के सामीप्य से शब्द का ज्ञान होता है तो सामीप्य के लिये एक शब्द से दूसरा और फिर उस से तीसरा, इसी प्रकार शब्द की परम्परा का अनुमान है क्योंकि कर्ण इन्द्रिय तो शब्द के स्थान में जा ही नहीं सकता और सामीप्य जब तक न हो तब तक शब्द का ज्ञान होना असम्भव है। इस लिये शब्द अनित्य है ॥

और जो कहा था कि नित्यों में भी अनित्य का सा उपचार होताहै, यह कथन भी ठीक नहीं क्यों कि:-

१४६—कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधाना-न्नित्येष्वव्यभिचारइति ॥ १८ ॥

कारण द्रव्य का प्रदेश शब्द द्वारा कथन होने से नित्यों में भी व्यभिचार नहीं आ सकता। जैसे कहते हैं कि " आकाश का प्रदेश ", " आत्मा का प्रदेश " इस से आकाश और आत्मा का कारण द्रव्य नहीं कहा जाता, जैसे घटादि अनित्य पदार्थों का। क्योंकि परिच्छिन्न द्रव्य के साथ जो आकाशका संयोग है, वह आकाश का व्यापक नहीं हो सकता, क्यों कि आकाश बहुत बड़ा है उसका घटादि पदार्थों के साथ जो संयोग है, वह एक देश में है, सब देशों में नहीं, यही समाधान " आत्मा का प्रदेश " इत्यादि में जानना चाहिये। जैसे संयोग अव्याप्यवृत्ति है वैसे ही शब्द आदि भी अव्याप्यवृत्ति हैं, क्यों कि ये भी एक देश में रहते हैं, सब देश में नहीं। जो वस्तु किसी प्रदेश में हो और किसी में न हो उसे अव्याप्यवृत्ति कहते हैं ॥

१४७--प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥ १९ ॥

उच्चारण करने के पहिले शब्द उपलब्ध नहीं होता (यदि होता तो सुन पड़ता) तथा आवरणादि भी उपलब्ध (पाये) नहीं जाते। इस से शब्द अनित्यहै। यदि कहो कि उच्चारण के पूर्व भी शब्द था तो, पर आवरण आदि एक होने से, सुनने में नहीं आता था, यह कहना भी ठीक नहीं क्यों कि जहां किसी प्रकार की रोक नहीं, वहां भी जब तक उच्चारण, न करो तब तक कोई शब्द सुनाई नहीं देगा। इस से सिद्ध हैं कि उच्चारण करने के पहिले शब्द न था, पीछे उत्पन्न हुआ। जो उत्पन्न होकर नष्ट हो वह अनित्य कहाता है। इस से शब्द अनित्य है। इस सिद्धान्त पर आक्षेप करते हैं कि:-

१४८—तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः ॥ २० ॥

पू०-यदि अनुपलम्भ (ज्ञात न होने) से आवरण नहीं है, तो हम कह सकते हैं कि आवरण की अनुपलब्धि भी अनुपलम्भ (ज्ञात न होने) से है, अनुपलब्धिसे आवरण का निषेध नहीं होसकता ॥

१४९--अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसद्भावान्नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात् ॥ २१ ॥

जैसे अनुपलम्भ (ज्ञात न होने) से भी अनुपलब्धि है, उसे मानते हो, तद्वत् केवल उपलब्ध न होना आवरणका असाधक नहीं उपलब्धि नहीं भी है तो भी आवरण है।

१५०—अनुपलम्भात्मकत्वात्तदनुपलब्धेरहेतुः ॥ २२ ॥

उ०-जो ज्ञान का विषय होता है, वह है, और जिस का ज्ञान नहीं होता, वह नहीं है, यह सिद्धान्त है। उपलब्धि के अभाव को अनुपलब्धि कहते हैं, अभावरूप होने से इसी की उपलब्धि नहीं होती। आवरण तो भावरूप पदार्थ है इसी की उपलब्धि अवश्य होनी चाहिये थी और उपलब्धि होती नहीं इसीलिये आवरण नहीं है ॥

१५१—अस्पर्शत्वात् ॥ २३ ॥

पू०-जैसे आकाश का स्पर्श नहीं होता और वह नित्य है, ऐसे ही शब्द का भी स्पर्श नहीं होता, इसलिये शब्द भी नित्य है ॥

१५२—न कर्मानित्यत्वात् ॥ २४ ॥

व्यभिचारी होनेसे अस्पर्शत्व हेतु ठीकनहीं। क्योंकि कर्मका भी स्पर्श नहीं होता पर वह अनित्य है ॥

१५३—नाणुनित्यत्वात् ॥ २५ ॥

परमाणु का स्पर्श होता है पर नित्य है इसलिये अस्पर्शत्व हेतु से शब्द का नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता। दो उदाहरणों में व्यभिचार आजाने से अस्पर्शत्व हेतु दुष्ट है। इन दोनों सूत्रों का अभिप्राय यह है कि जिस पदार्थ का स्पर्श नहीं होता वह नित्य होता है। जैसे ' आकाश ' ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो उत्तर यह है कि क्रिया का स्पर्श नहीं होता पर अनित्य है, अर्थात् यह नियम नहीं है कि जिस २ का स्पर्श न हो वह २ नित्य ही हो। और यह भी नियम नहीं कि जिस २ का स्पर्श हो वह २ अनित्य हो। देखो परमाणु का स्पर्श होने पर भी वह नित्य है ॥

१५४—सम्प्रदानात् ॥ २६ ॥

पू०-शब्द का सम्प्रदाना होता है, इसलिये नित्य है। क्योंकि जो पदार्थ दिया जाता है, वह पहिले से विद्यमान रहता है। आचार्यादि शिष्यादि को शब्द देता है, इससे पहिले से शब्द विद्यमान है, यह मानना पड़ेगा ॥

१५५--तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः ॥ २७ ॥

उ०-देने वाले और लेने वाले के बीच में शब्द की उपलब्धि नहीं होती इसलिये उक्त हेतु ठीक नहीं। जो वस्तु विद्यमान होती है वह देने वाले से अलग होकर लेने वाले के पास पहुंचती है, यह बात शब्द में नहीं घटती इसलिये संप्रदान कहने से शब्द नित्य नहीं हो सकता ॥

१५६-अध्यापनादप्रतिषेधः ॥ २८ ॥

पू०-पढ़ाये जाने से निषेध नहीं हो सकता। जो सम्प्रदान न होता तो पढ़ाना नहीं बन सकता। इसलिये शब्द का देना मानना चाहिये ॥

१५७-उभयोः पक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः ॥ २९ ॥

उ०-सन्देह की निवृत्ति न होने से दोनों पक्षों में पढ़ाना समान है। क्या जाने गुरु का शब्द शिष्यमें पहुंचता है अथवा शिष्य भी जैसा गुरु बोलता है वैसा ही आप उच्चारण करता है, इसलिये पढ़ना सम्प्रदान का हेतु नहीं और सम्प्रदान न होने से शब्द नित्य नहीं हो सकता ॥

१५८-अभ्यासात् ॥ ३० ॥

पू०-जिस का अभ्यास किया जाता है वह नित्य देखा गया है जैसे पांच बार देखता है, तो नित्यरूप फिर फिर २ देखा जाता है। ऐसे ही शब्दमें भी अभ्यास होता है कि दश बार वाक्य पढ़ा, बीस वार पढ़ा, इस लिये नित्य शब्द का बार २ उच्चारण करना अभ्यास है। अभ्यास तभी बन सकता है जब कि शब्द उच्चारण से पूर्व भी नित्य वर्त्तमान हो ॥

१५९-नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात् ॥ ३१ ॥

उ०-नहीं, क्योंकि नित्य न होते हुवे भी अभ्यास का व्यवहार होता हैं। जैसे दो बार अग्निहोत्र करता है, तीन बार होम करता है दो बार भोजन करता है, इस व्यभिचार से यह हेतु ठीक नहीं, क्योंकि उदाहरणों से सिद्ध होगया कि होम भोजन आदि क्रिया अनित्य हैं तो भी अभ्यास का उपचार होता है, ऐसे ही अनित्य शब्दों का अभ्यास होता है ॥

१६०-अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यदित्यन्यताऽभावः ॥ ३२॥

पू०-प्रतिषेध हेतु में जो अन्य शब्द का प्रयोग किया था, उस का खण्डन इस सूत्र से करते हैं कि जिसको अन्य कहते हो. वह अपने साथ अनन्य होने से अन्य नहीं होसता, इसलिये अन्यता का अभाव हुआ। तात्पर्य यह है कि अन्य (भिन्न) दूसरे का भेद इस में हो सकता है, अपने साथ तो भेद नहीं, तो अनन्य हुआ और जो अनन्य है, वह अन्य हो नहीं सकता, इसलिये अन्यत्व का अभाव सिद्ध होता है ॥

१६१–तदभावेनास्त्यनन्यता तयोरितरेतरापेक्षसिद्धेः ॥३३॥

उ०–सिद्धान्ती कहताहै कि अन्यत्वका अभाव मानो तो अनन्यता भी न बनेगी क्योंकि इन दोनों की सिद्धि परस्पर सापेक्ष है ॥

जैसे कहा कि " अनन्य " तो यह समस्त पद है, इस का अर्थ यह है कि "अन्य नहीं" वह " अनन्य " कहाता है। जो उत्तर पद अन्य न होता तो किस का निषेध किया जाता। इस लिये अनन्य शब्द दूसरे अन्य शब्द की अपेक्षा से सिद्ध होता है। इस से जो पूर्व पक्ष में कहा था कि अन्यत्व का अभाव है, सो यथार्थ नहीं ॥

१६२–विनाशकारणानुपलब्धेः ॥ ३४ ॥

पू०–शब्द के नाश का कारण नहीं जान पड़ता। इस लिये शब्द नित्य है ॥ जो पदार्थ अनित्य होता है उस का नाश किसी कारण से होता है, जैसे वस्त्र के कारण तन्तुओं का संयोग जब नष्ट (डोरे अलग २) होतेहैं तब वस्त्र नष्ट होता है। यदि शब्द अनित्य होता तो उसका नाश जिस कारणसे होता, वह कारण जान पड़ता ॥

१६३–अश्रवणकारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसंगः ॥ ३५ ॥

उ०–शब्द न सुन पड़ने का कारण उपलब्ध न होने से सर्वदा श्रवण होना चाहिये। पर ऐसा नहीं होता इस लिये शब्द नित्य नहीं ॥

१६४–उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्त्वादनपदेशः ॥ ३६ ॥

यदि कहो कि न सुनाई पड़ने का कारण अनुमान से उपलब्धहै, तो अनुपलब्धि के असत् होने से यह कहना नहीं बनता कि कारण उपलब्ध नहीं ॥

१६५–पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दाभावेनानुपलब्धिः ॥३७॥

घण्टे को बजा कर उस को हाथ से पकड़ लो तो शब्द रुक जाता है, उपलब्ध नहीं होता (यदि नित्य होता तो ऐसा क्यों होता ?) ॥

१६६–विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्व प्रसंगः ॥ ३८ ॥

इस सूत्र पर वृत्तिकार ने पूर्व वा उत्तर कोई पक्ष नहीं लिखा, प्रत्युत यह सूत्र ही अपनी व्याख्या में नहीं माना परन्तु वात्स्यायन मुनि के भाष्य में व्याख्याकी है इस लिये हम भी लिखते हैं ॥

शब्द के विनाश का कारण (हाथसे पकड़नेमें) उपलब्ध नहीं होता तब शब्द स्थिर रहना चाहिये था, और उस दशा में शब्द की नित्यता पाई जाती ॥

१६७–अस्पर्शत्वादप्रतिषेधः ॥ ३९ ॥

पू०–शब्द के स्पर्शरहित होने से (१६५) सूत्र का दोष नहीं आता। (क्योंकि

शब्द आकाश का गुण है, आकाश में स्पर्श नहीं। तब हाथ लगाने से शब्दाऽभाव कैसे माना जाय ?) ॥

१६८—विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे ॥॥ ४० ॥

उ०-समास में जहां एक द्रव्य में विभक्त = भिन्न २ प्रकार का शब्द भी सुनने में उपपन्न होता है। (कुछ यही एक बात नहीं कि घन्टा बजा कर छू देने से शब्द रुक जाता हो, किन्तु एक ही घन्टे वा तुरी आदि में अनेक विभागों = विभक्तियों के शब्द को हम सुनते हैं, इससे जानतेहैं कि आकाश के अतिरिक्त अन्य द्रव्य भी चाहे आकाश में ही विकृत होते हैं, पर शब्द भेद के कारण हैं) ॥

आगे वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक शब्दों में से वर्णात्मक शब्द के विषय में विचार करते हैं कि—

१६९—विकारादेशोपदेशात्संशयः ॥ ४१ ॥

शब्द (वर्णात्मक) में विकार और आदेश किये जाते हैं इससे संशय होताहै। (कि इ को य् (सुधी-उपास्यः = सुध्युपास्यः) किया जाता है तब इ का विकार य् होता है, वा इ के स्थान में एक स्वतन्त्र दूसरा वर्ण य् (जो इ से नहीं बना) प्रयुक्त होता है ?) ॥

१७०—प्रकृतिविवृद्धौ विकारविवृद्धेः ॥ ४२ ॥

प्रकृति (ई इत्यादि) बड़ी होने पर विकार (य् इत्यादि) भी बड़े होने चाहिये थे। (पर ऐसा देखने में नहीं आता। इस लिये इ और य् में कारण का विकार कार्यपना मानना ठीक नहीं) ॥

१७१—न्यूनसमाधिकोपपत्तेर्विकाराणामहेतुः ॥ ४३ ॥

पूर्व सूत्र में यह आक्षेप कर चुके हैं कि विकारों के न्यून, समान और अधिक भी उपपन्न होने से यह कोई हेतु नहीं कि (ई बड़ी हो तो य् भी बड़ा होना चाहिये था। बड़े कारणों के छोटे कार्य भी होते हैं, जैसे बहुत रुई का थोड़ा कपड़ा; समान कारण के समान कार्य विकार भी होते हैं, जैसे जितना सुवर्ण उस के उतने ही कुण्डलादि और न्यून कारण के अधिक कार्य विकार भी देखे जाते हैं, जैसे छोटे से वटबीज कारण का बड़ा भारी वटवृक्ष विकार कार्य है) ॥

१७२—नाऽतुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात् ॥ ४४ ॥

समाधान-यह आक्षेप इस लिये नहीं बनता कि-अतुल्य = भिन्न २ प्रकृतियों के विकारविकल्प = भिन्न २ कार्य होते हैं (वट से आम्र तो उत्पन्न नहीं होता। बस यदि इ का विकार य होता तौ इ और य् में सजातीयता होती। ऐसा नहीं है। इस लिये विकार मानना ठीक नहीं) ॥

१७३—द्रव्यविकारवैषम्यवद्वर्णविकारविकल्पः ॥ ४५ ॥

आक्षेप की पुनः पुष्टि करते हैं कि-जैसे द्रव्यों से विषमविकार होजाते हैं, वैसे ही वर्णों=अक्षरों से भी विषम विकार वा विकार के विकल्प समझलो (अर्थात् जैसे मीठे दूध से खट्टा दही आदि विषमविकार वा कार्य हो जाते हैं, ऐसे ही ह्रस्व वा दीर्घ इ वर्ण से भी विषम य् विकार हो जाना अनुपपन्न नहीं) ॥

१७४-न विकारधर्माऽनुपपत्तेः ॥ ४६ ॥

फिर आक्षेपकी पुष्टिका खण्डन करके अपने पक्षका समाधान करते हैं कि-विकार के धर्म न पाये जाने से (इ का विकार य्) नहीं ॥ (जैसे मिट्टी के विकार मिट्टी) सुवर्ण के विकार सुवर्ण होते हैं, ऐसा धर्म (नियम) इ को य् होने आदि में नहीं पाया जाता । इसलिये विकार मानना ठीक नहीं) ॥

१७५-विकारप्राप्तानामपुनरावृत्तेः ॥ ४७ ॥

जो वस्तु विकार को प्राप्त होजाते हैं वे फिर अपनी प्रकृति (स्वरूप) को प्राप्त नहीं होते, (इस से भी इ का विकार य् नहीं । क्योंकि दूध का दही बन कर फिर उसी दही का दूध नहीं बनता, पर य का तो फिर इ भी होता देखा जाता है । इस लिये विकार मानना ठीक नहीं) ॥

१७६-सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः ॥ ४८ ॥

पुनः आक्षेप करते हैं कि-सुवर्णादि के पुनः प्रकृति (स्वरूप) में आजाने से यह हेतु (जो कि १७५ में कहा) ठीक नहीं (सुवर्णका विकार कुण्डलादि, और कुण्डलादि का फिर सुवर्ण जैसे होजाता है, वैसे ही इ का य् और फिर य् को इ भी जानो) ॥

१७७-तद्विकाराणां सुवर्णभावाऽव्यतिरेकात् ॥ ४९ ॥

फिर समाधान करते हैं कि-सुवर्ण के विकार सुवर्णभाव से अलग नहीं होते, इस कारण (यह दृष्टान्त ठीक नहीं जो कि १७६ में कहा है, क्योंकि सुवर्ण का तो विकार कुण्डलादि भी सुवर्ण ही है, पर इ का विकार य् को मानें तो य् ही इ तो नहीं होता इसलिये सुवर्ण के दृष्टान्त से वर्ण विकार मानना ठीक नहीं) ॥

१७८-वर्णत्वाऽव्यतिरेकाद्वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ॥ ५० ॥

आक्षेपकी पुष्टिमें फिर कहतेहैं कि-वर्णत्व से अलग वर्ण होनेसे वर्णोंके विकार का प्रतिषेध नहीं हो सकता (जैसे सुवर्ण का विकार सुवर्ण है वैसे इ 'वर्ण' का विकार य् भी 'वर्ण' ही तो है) ॥

पुनः समाधान करते हैं कि:—

१७९-सामान्यवतोधर्मयोगो न सामान्यस्य ॥ ५१ ॥

सामान्य वाले (सुवर्ण) का धर्मयोग है, न कि सामान्य (सुवर्णत्व) का । (अर्थात् सुवर्ण का सुवर्णत्व तो स्वयंधर्म है, उसके कुण्डलादि धर्म नहीं हो सकते, किन्तु सुवर्णके हो सकते हैं । इसी प्रकार इ में वर्णत्व है वह किस वर्णका वर्णत्वहै ? क्या जिस वर्ण का वर्णत्व इ में है, उसी का वर्णत्व य् में भी कोई कह सकता है ?

जब नहीं कह सकता तो वर्णत्व सामान्य के धर्म इ को य् इत्यादि नहीं हो सकते। भला निवृत्त होने वाला इत्व-उत्पन्न होने वाले यत्वकी प्रकृति कैसे होसकता है ?) ॥

१८०-नित्यत्वे विकारादनित्यत्वे चानवस्थानात् ॥ ५२ ॥

वर्णों के नित्य होने पर विकार से और अनित्य होने पर न ठहर सकने से (विकार पक्ष ठीक नहीं क्योंकि नित्य में विकार सम्भव नहीं, अनित्य में इस लिये विकार मानना नहीं होसकता कि यदि वर्ण उत्पन्न होकर नष्ट होजाता है तो एक वर्ण दूसरे वर्णका कारण नहीं, तब एक वर्णका दूसरा वर्ण विकार कैसे माना जावे ?) ॥

१८१-नित्यानामतीन्द्रियत्वात्तद्धर्मविकल्पाच्च वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ॥ ५३ ॥

विकार पक्ष की पुष्टिमें कहते हैं कि-नित्य वर्णोंके विकारों का प्रतिषेध इसलिये नहीं होसका कि नित्य पदार्थोंके धर्म कई प्रकार के (विकल्पित) हैं और अतीन्द्रियहैं। अर्थात् कोई नित्य पदार्थ इन्द्रियों का विषय नहीं है और 'च' कार से कोई इन्द्रियों के विषय हैं, जैसे गोत्व जाति, और नित्य पदार्थों के धर्म अनेक हैं, कोई विकारी, कोई अविकारी। बस वर्ण नित्य होने पर भी विकारी माने जा सकते हैं) ॥

१८२-अनवस्थायित्वे च वर्णोपलब्धिवत्तद्विकारोपपत्तिः ॥५४॥

अब अनवस्थान (न ठहर सकने) के दोष का भी उत्तर देते हैं कि- ठहरने वाला होने पर भी जैसे वर्ण उपलब्ध (विषय) होजाता है, वैसे उसको विकार की भी उपपत्ति जानो ॥

१८३-विकारधर्मित्वे नित्यत्वाभावात् कालान्तरे विकारोपपत्तेश्चाऽप्रतिषेधः ॥ ५५ ॥

१८१। १८२ में जो विकारपक्ष के समाधान कियेथे उनका खण्डन करते हैं कि विकार वाला होने पर नित्यता नहीं रहती (क्योंकि धर्म विकल्प नहीं देखा जाता कि कोई नित्य पदार्थ विकारी हों और कोई अविकारी, किन्तु सब नित्य पदार्थ अविकारी होते हैं) और अन्य काल में विकार उपपन्न होने से भी उत्तर (वर्णोपलब्धिवत्) ठीक नहीं बनता (क्योंकि इकार श्रवणकाल में यकार सर्वथा नहीं रहता और यकार श्रवणकाल में इकार नहीं) ॥

१८४-प्रकृत्यनियमाद्वर्णविकाराणाम् ॥ ५४ ॥

और भी विकार पक्ष मानने में दोष है कि-वर्ण विकारों में प्रकृति का नियम नहीं (अर्थात् जैसे दूध से दही विकार में दूध प्रकृति और दही विकार है, ऐसा नियम है, वैसे यह नियम नहीं कि इकार प्रकृति से ही यकार विकार होता हो, प्रत्युत 'विध्यति' इत्यादि प्रयोगों में यकार प्रकृति से इकार विकार होगया, तो प्रकृति का नियम न होने से भी विकार पक्ष मानना ठीक नहीं) ॥

१८५--अनियमे नियमान्नाऽनियमः ॥ ५७ ॥

उक्त १८४ सूत्र का छलवाद से प्रतिवाद करतेहैं कि-अनियम के नियम होने से अनियम न रहा (अर्थात् जब यह बात नियमित हो गई कि वर्ण विकारों में प्रकृति का नियम नहीं तो यह भी एक प्रकार से नियम हो गया, बस अनियम बताना ठीक नहीं रहा) ॥ फिर खण्डन करते हैं कि:-

१८६--नियमाऽनियमाविरोधादनियमे नियमाच्चाऽप्रतिषेधः ॥ ५८ ॥

नियम और अनियम इन दोनों में परस्पर विरोध होने और अनियम के नियत होने से (१८५) का यह कथन ठीक नहीं कि " अनियम न रहा " ॥

अब इस विचार को समाप्त करते हुवे आचार्य्य कहते हैं कि—

१८७--गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यस्तु विकारोपपत्तेर्वर्णविकारः ॥ ५९ ॥

(तु) वर्णप्रकृति से वर्णान्तर विकार मानना तो उक्त तर्क वितर्कों से खण्डित हो चुका, हां-गुणान्तरापत्ति, उपमर्द, ह्रास, वृद्धि, लेश और श्लेषों से तो विकार की उपपत्ति होने से वर्ण विकार माना जासकता है (गुणान्तरापत्ति=उदात्त को अनुदात्त होना इत्यादि, उपमर्द=अस् का भू और ब्रू का वच इत्यादि, ह्रास=दीर्घ का ह्रस्व हो जाना, वृद्धि=ह्रस्व का दीर्घ हो जाना, लेश=जैसे अस् के अ का लोप हो जाना, श्लेष=आगम जैसे इट् आदि, इनसे वर्णों में विकार का व्यवहार है) ॥

१८८--ते विभक्त्यन्ताः पदम् ॥ ६० ॥

वे (वर्ण) विभक्ति अन्त में लगे हुवे " पद " कहाते हैं ॥

१८९ तदर्थे व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात्संशयः ॥ ६१ ॥

उस (पद) के अर्थ (पदार्थ) में व्यक्ति आकृति और जाति के सन्निधान में उपचार से संशय होता है (कि गौः पद से उसका पदार्थ गोजाति गोव्यक्ति वा गौ आकृति, इन में से क्या है ? या सब ही गो पदार्थ हैं ?)

१९०-याशब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्ध्यपचयवर्णसमासानुबन्धानां व्यक्तावुपचाराद् व्यक्तिः ॥ ६२ ॥

प्रथम व्यक्ति को पदार्थ मानने वालों का मत कहते हैं कि—या शब्द, समूह, त्याग, ग्रहण, संख्या, वृद्धि, ह्रास, वर्ण, समास=बैठना, अनुबन्ध=सम्बन्ध इन सब का व्यक्ति में उपचार (प्रयोग) देखा जाने से व्यक्ति (ही पद का अर्थ है । जो " गौ जाति है " यह या शब्द, गौओं का समूह, गौ का दान, गौ का ग्रहण=लेना,

१० गौवें गौ की वृद्धि, गौ का ह्रास, गौर आदि गौ के रङ्ग, गौ का बैठना, गौ का मुख इत्यादि सब प्रयोगों में जाति और आकृति तक का ग्रहण नहीं, किन्तु व्यक्ति का ही ग्रहण देखा जाता है अतः व्यक्ति ही पदार्थ है) ॥

१९१-न तदनवस्थानात् ॥ ६३ ॥

नहीं क्योंकि व्यक्ति (पदार्थ) माननेमें व्यवस्था नहीं होती (क्योंकि गौ खड़ी है इत्यादि प्रयोगों में जातिका त्याग तो नहीं, किन्तु जाति सहित व्यक्ति का ग्रहण है । इसी प्रकार दान, आदान, संख्या आदि में भी समझिये) ॥

अब इस बात का समाधान करते हैं कि तो फिर (१९०) के अनुसार व्यक्ति में उपचार क्यों है ? उत्तर-

१९२-सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोग-साधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दन-गङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः ॥ ६४ ॥

जैसे सहचार में-यष्टि पद से यष्टि वाला ब्राह्मण, स्थान में-मञ्चसे मञ्चस्थपुरुष, तादर्थ्य (उस के लिये) में-कट से कटार्थक तृण, वृत्त (चलन) में-यम से तत्तुल्य राजा तोल में-धौन मन सत्तू से उतने सत्तू धारण में-तुलाचन्दन से तुला में धरा चन्दन, सामीप्य में-गङ्गासे गङ्गातीर. संयोग रङ्ग में-काले रङ्गसे रङ्गी साड़ी (वस्त्र) काली साड़ी, साधन में अन्न से प्राण, आधिपत्य में-कुल वा गोत्र से उस कुल का मुख्य पुरुष ग्रहण किया जाता है. ऐसे ही लक्षणा से जो वह न हो उस में भी उस का प्रयोग होता है (तब गौ पद से गोत्व ग्रहण सुगम है) ॥

१९३-आकृतिस्तदपेक्षत्वात्सत्त्वव्यवस्थानासिद्धेः ॥ ६५ ॥

अब यह पक्ष खड़ा करते हैं कि आकृति ही पदका अर्थ है-प्रत्येक प्राणी (यह गौ है, यह घोड़ा है इत्यादि) की व्यवस्था की सिद्धि आकृति (शकल सूरत) आकार की सापेक्ष होने से आकृति (पद का अर्थ है) ॥

अब जाति को पद का अर्थ मानने का पक्ष कहते हैं कि-

१९४-व्यक्त्याकृतियुक्तेप्यऽप्रसंगात् प्रोक्षणादीनां मृद्गवके जाति ॥ ६६ ॥

व्यक्ति और आकृति युक्त भी मट्टी की गाय में गौ के स्नान आदि का व्यवहार नहीं, इस लिये जाति (पद का अर्थ है) ॥

१९५-नाकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः ॥ ६७ ॥

नहीं (१९४ का कथन ठीक नहीं) क्योंकि जाति की पहचान भी आकृति और व्यक्ति की अपेक्षा रखती है । तो फिर व्यक्ति आकृति और जाति में से पद का अर्थ क्या है ? कहते हैं कि—

१९६—व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ॥ ६८ ॥

व्यक्ति आकृति और जाति (तीनों) पद का अर्थ हैं (क्योंकि शब्द की शक्ति तीनों में है) ॥

१९७—व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयोमूर्त्तिः ॥ ६९ ॥

गुण विशेष (गुरुत्व, कठिनत्व, द्रवत्व आदि) की आश्रय वाली मूर्त्ति को व्यक्ति कहते हैं ॥

१९८—आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या ॥ ७० ॥

जिस से जाति और जाति के चिह्न विख्यात हों उस को आकृति कहते हैं। (प्राणी और उनके अङ्गों की रचना विशेष जाति का चिह्न आकृति हुई) ॥

१९९—समानप्रसवात्मिका जातिः ॥ ७१ ॥

(द्रव्यों में आपस का भेद होते हुवे भी) जिससे समानप्रसवपना पाया जाता है वह जाति है ॥

* इति द्वितीयाऽध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥ २ ॥ *

इति न्यायदर्शनभाषानुवादे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

SWAMI PRESS MEERUT.

ॐ
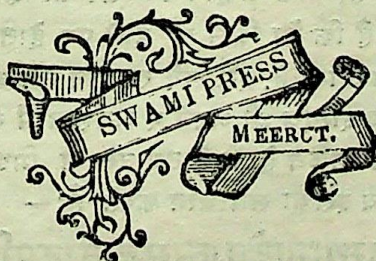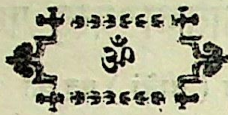
अथ तृतीयाऽध्यायः
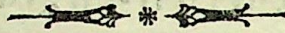
प्रमाणों की परीक्षा हो चुकी, अब प्रमेयों की परीक्षा की जायगी । प्रमेयों में पहिला और मुख्य 'आत्मा' है, इसलिये प्रथम आत्मा की ही विवेचना की जाती है। क्या देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और वेदना के सङ्घात का ही नाम आत्मा है या आत्मा इन से कोई भिन्न पदार्थ है ? पहिले सूत्र में इन्द्रिय चैतन्यवादियों के मत का निराकरण करते हैं:—

२००—दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥ १ ॥

उ०—दर्शन और स्पर्शनसे एकही अर्थका ग्रहण होनेसे (आत्मा देहादिसे भिन्न है) ॥

जिस विषय को हम आंखसे देखते हैं, उसी को त्वचा से स्पर्श भी करते हैं। नीबू को देख कर रसना में पानी भर आता है। यदि इन्द्रिय ही चेतन होते तो ऐसा कदापि नहीं हो सकता था, क्योंकि 'अन्यदृष्टमन्यो न स्मरति' देवदत्त के देखे हुवे अर्थ का यज्ञदत्त को कभी स्मरण नहीं होता। फिर आंख के देखे हुवे विषय का जिह्वा से वा त्वचा से क्योंकर अनुभव किया जाता। जो कि हम विना किसी सन्देह के एक इन्द्रिय के अर्थ को दूसरे इन्द्रिय से ग्रहण करते हैं, इस से सिद्ध है कि उस अर्थ के ग्रहण करने में इन्द्रिय स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु इन के अतिरिक्त ग्रहीता कोई और है जो इन के द्वारा एक कर्त्तृक अनेक प्रत्ययों को ग्रहण करता है और वही चेतन आत्मा है ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:—

२०१—न, विषयव्यवस्थानात् ॥ २ ॥

पू०—उक्त कथन ठीक नहीं है, विषयों की व्यवस्थिति होने से ॥

देहादि सङ्घातके अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं है, विषयों की व्यवस्था होने से इन्द्रियों के विषय नियत हैं, आंख के होने पर रूप का ज्ञान होता है, न होने पर नहीं होता और यह नियम है कि जो जिस के होने पर होता और न होने पर नहीं होता, वह उसी का समझा जाता है. इसलिये रूपज्ञान नेत्र का है क्योंकि वही उसको देखता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रिय भी अपने २ अर्थज्ञान में स्वतन्त्र हैं। जब इन्द्रिय के होने से ही विषयों की उपलब्धि होती है तब उस से भिन्न अन्य किसी चेतन की कल्पना क्यों की जाय ? अब इसका समाधान करते हैं:—

२०२—तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ॥ ३ ॥

उ०—उक्तविषय व्यवस्थितिसे ही आत्माकी सिद्धि होनेसे निषेध नहीं होसकता।

इन्द्रियों के विषयों की व्यवस्था होने से ही (उन से भिन्न चेतन) आत्मा की

सत्ता माननी पड़ती है। यदि इन्द्रियों के विषय नियत न होते अर्थात् एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय के विषय का भी ग्रहण हो सकता, तब तो उनमें स्वतन्त्रता की कल्पना की जा सकती थी। परन्तु जिस दशा में कि उनके विषय नियत हैं अर्थात् आंख से रूप का ही ग्रहण होता है, न कि गन्धादि अन्य विषयों का। इस से यह सिद्ध होता है कि सब विषयों का ज्ञाता चेतन आत्मा जो इन्द्रियों से अपने अपने विषयों को ही ग्रहण कराता है, उनसे भिन्न है॥

इन्द्रिय चैतन्यवादियों के मत का खण्डन करके अब देहात्मवादियों का खण्डन करते हैं:-

२०३-शरीरदाहे पातकाभावात् ॥ ४ ॥

उ० शरीर को जलाने में पाप न होने से (आत्मा शरीर से पृथक् है)॥

यदि शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है तो मृत शरीरको जलाने में पाप होना चाहिये। परन्तु पाप सजीव शरीर को जलाने में होता है न कि मृत शरीर को। यदि कहो कि देहात्मवादी पाप पुण्य को नहीं मानते तो देह की रक्षा और विनाश से लाभ हानि तो मानते हैं। बस उस देह (उन की दृष्टि में आत्मा) के नाश होने से जो हानि होगी; वही पाप है। इसलिये देह से भिन्न आत्मा अवश्य मानना चाहिये॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:-

२०४-तदभावः सात्मकप्रदाहेपि तन्नित्यत्वात् ॥ ५ ॥

पू०-उस (आत्मा) के नित्य होने से सजीव शरीर के जलाने में भी पाप न होना चाहिये।

सजीव शरीर के जलाने में भी पाप का अभाव होना चाहिये आत्मा के नित्य होने से, क्योंकि जो देह से भिन्न आत्मा को मानते हैं, वे उसको नित्य भी मानते हैं। यथा गीता-' न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायंभूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे '। अर्थात् आत्मा न कभी उत्पन्न होताहै और न मरता है, न कभी उत्पन्न हुवा न होगा, न मरा न मरेगा, यह अज, नित्य, सनातन और पुराण है। शरीर के नाश होने पर उस का नाश नहीं होता। तथा आगे चल कर उसी गीता में कहा है:-" नैनं छिन्दन्तिशस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदन्त्यापो न शोषयति मारुतः "॥ अर्थात् आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, अग्नि नहीं जला सकता, जल गला नहीं सकता और न पवन सुखा सकता है। जब ऐसा है तो फिर आत्मा सहित शरीर के जलाने में भी कुछ पाप नहीं होना चाहिये क्योंकि नित्य आत्माकी कोई हिंसा नहीं कर सकता। यदि कहो कि हिंसा होतीहै, तो आत्मा का नित्यत्व न रहेगा। इस प्रकार पहले पक्षमें हिंसा निष्फल होती है और दूसरे पक्ष में उसकी उपपत्ति नहीं होती॥

अब इस का समाधान करते हैं:-

२०५-न, कार्याश्रयकर्तृवधात् ॥ ६ ॥

उ०-शरीर और इन्द्रियों के उपघात होने से (पूर्वपक्ष) ठीक नहीं ॥

इस सूत्र में गौतम मुनि अपना अन्तिम सिद्धान्त कहते हैं। हम नित्य आत्मा के बधको हिंसा नहीं कहते किन्तु कार्याश्रय शरीर और विषयोपलब्धिके कारण इन्द्रियों के उपघात (जिस से आत्मा में विकलता उत्पन्न होती है) को हिंसा कहते हैं। सुख दुःख रूप कार्य हैं उनका संवेदन शरीरके द्वारा किया जाता है, इसलिये वह कार्याश्रय कहाता है और इन्द्रियोंसे विषयों का ग्रहण किया जाता है इसलिये उन में कर्त्तृत्व का व्यपदेश किया है। तौ बस शरीर और इन्द्रियों के सम्बन्ध का जो उच्छेद करना है इसी का नाम हिंसा है, इसलिये हमारे मत में उक्त दोष नहीं आता॥

अब आत्मा के देहादि सङ्घात से भिन्न होने में दूसरा हेतु देते हैं:-

२०६-सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ ७ ॥

उ०-बाईं आँख से देखी हुई वस्तु का दाहिनी आंख से प्रत्यभिज्ञान होने से (आत्मा देहादि से पृथक् है)॥

पूर्वापर ज्ञान के मेलको प्रत्यभिज्ञान कहतेहैं। जैसे-यह वही यज्ञदत्त है जिसको मैंने वाराणसी में देखा था। बाईं आंख से देखी हुई वस्तु की जो दाहिनी आंख से प्रत्यभिज्ञा होती है, इस से सिद्ध होता है कि उस प्रत्यभिज्ञा का कर्त्ता इन्द्रियों से भिन्न कोई और ही पदार्थ है। यदि इन्द्रिय ही चेतन होते तौ बाईं आंख से देखी हुई वस्तुको दाईं आँख कभी नहीं पहचान सकती थी, क्योंकि देवदत्त के देखे हुवे को यज्ञदत्त नहीं जान सकता॥

इस पर आक्षेप करते हैं-

२०७-नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ॥ ८ ॥

पू०-नाक की हड्डी का आवरण होने से एक में दो का अभिमान होने से (यह कथन) युक्त नहीं है॥

वास्तव में चक्षु इन्द्रिय एक ही है, नाक की हड्डी के बीच में आजाने से लोगों को दो की भ्रान्ति हो रही है। जैसे किसी तड़ाग में पुल बांध देने से दो तड़ाग नहीं होजाते ऐसे ही एक मस्तक में नाक का व्यवधान होने से आंख दो वस्तु नहीं हो सकतीं। अतएव प्रत्यभिज्ञा कैसी?

अब इस आक्षेप का समाधान करते हैं-

२०८-एकविनाशे द्वितीयाऽविनाशान्नैकत्वम् ॥ ९ ॥

उ०-एक के नाश होने पर दूसरी का नाश न होने से एकता नहीं हो सक्ती॥

यदि चक्षु इन्द्रिय एक ही होता तौ एक आंख के नष्ट होने पर दूसरी भी नहीं रहती, परन्तु यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि एक आंख के फूट जाने पर दूसरी शेष रहती हैं और उस से आंख का काम लिया जाता है। इसलिये चक्षु एक नहीं॥

पुनः पूर्वपक्षी इस पर आक्षेप करता है:-

२०९-अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ॥ १० ॥

पू०-अवयव का नाश होने पर भी अवयवी की उपलब्धि होने से (उक्त हेतु) अहेतु है ॥

उक्त हेतु ठीक नहीं है क्योंकि अवयव के नाश होने पर भी अवयवी की उपलब्धि देखने में आती है। जैसे-वृक्ष की किन्हीं शाखाओं के कट जाने पर भी वृक्ष की उपलब्धि होती है, ऐसे अवयव रूप एक चक्षु के विनाश होने पर भी दूसरे चक्षु में अवयवी की उपलब्धि शेष रहती है। इस लिये चक्षुर्द्वैत मानना ठीक नहीं ॥

अब सिद्धान्त सूत्र के द्वारा समाधान करते हैं:-

२१०-दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ॥ ११ ॥

उ०-दृष्टान्त के विरोध से निषेध नहीं हो सकता ॥

दृष्टान्त के विरोध से चक्षुर्द्वैत का निषेध नहीं हो सकता, क्यों कि जैसे शाखायें वृक्ष रूप अवयवी का अवयव हैं, तद्वत एक चक्षु दूसरे चक्षु का अवयव नहीं अर्थात् वे दोनों ही अवयव हैं, अवयवी उनका कोई और है। अतः दृष्टान्त में विरोध आने से निषेध युक्त नहीं। अथवा दृश्यमान अर्थके विरोधको दृष्टान्त विरोध कहतेहैं। मृत मनुष्य के कपाल में नासास्थि का व्यवधान होने पर भी दो छिद्र भिन्न २ रूप से स्पष्ट दीख पड़ते हैं। यों तो हृदय का व्यवधान होने से दोनों हाथों को भी कोई एक कह सकता है, परन्तु यह दृश्यमान अर्थ का साक्षाद्विरोध है। इस लिये चक्षुरैक्य ठीक नहीं और जब चक्षु दो सिद्ध हो गये, तब एक के देखे हुवे अर्थ की दूसरे को प्रत्यभिज्ञा होना यह सिद्ध करता है कि उस प्रत्यभिज्ञा का कर्त्ता इन्द्रियों से भिन्न कोई और ही पदार्थ है और वही चेतन आत्मा है। फिर उसी की पुष्टि करते हैं:-

२११-इन्द्रियान्तरविकारात् ॥ १२ ॥

उ०-(किसी इन्द्रिय से उस के विषय को ग्रहण करने पर) अन्य इन्द्रिय में विकार उत्पन्न होने से (आत्मा देहादि से पृथक् है) ॥

किसी अम्लद्रव्य को चक्षुसे देखने अथवा घ्राणसे उसका गन्ध ग्रहण करने पर रसना में विकार उत्पन्न होता है, अर्थात् मुंह में पानी भर आता है। यदि इन्द्रियों को ही चेतन माना जावे तो यह बात हो नहीं सकती कि अन्य के देखे को कोई अन्य स्मरण करे। इस लिये इन्द्रियों से पृथक् कोई आत्मा है। अब इसपर शङ्का करते हैं:-

२१२-न, स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ॥ १३ ॥

पू०-स्मृति के स्मर्त्तव्यविषयिणी होने से (पृथक् आत्मा के मानने की कोई आवश्यकता) नहीं ॥

स्मरण योग्य विषयों का अनुभव करना स्मृति का धर्महै, वह स्मृति स्मर्त्तव्य विषयों के योग से उत्पन्न होती है। उसी से इन्द्रियान्तर विकार उत्पन्न होते हैं। जिस मनुष्य ने एक वार नीबू के रस को चाखा है, दूसरी वार उस को स्मरण करने से उस के मुंह में पानी भर आता है, सो यह स्मृति का धर्म है न कि आत्मा का ॥

अब इस का समाधान करते हैं:-

२१३-तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ॥ १४ ॥

उ०-उस के आत्मगुण होने से (आत्मा का) निषेध नहीं हो सकता ॥

स्मृति कोई द्रव्य नहीं है, किन्तु वह आत्मा का एक गुण है, इस लिये उक्त आक्षेप युक्त नहीं है। जब स्मृति आत्मा का गुण है तभी तो अन्य के देखे का अन्य को स्मरण नहीं होता। यदि इन्द्रियों को चेतन मानोगे तो अनेक कर्त्ता होने से विषयों का प्रतिसन्धान न हो सकेगा। जिस से विषयों की कोई व्यवस्था न रहेगी अर्थात् कोई देखेगा और कोई स्मरण करेगा और यह हो नहीं सकता। यह व्यवस्था तो तभी ठीक रह सकती है जब कि अनेक अर्थों का एक द्रष्टा भिन्न २ निमित्तों के योग से पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण करता हुवा इन्द्रियान्तर विकारों को उत्पन्न करता है, ऐसा माना जायगा। क्यों कि अनेक विषयों के द्रष्टा को ही दर्शन के प्रतिसन्धान से स्मृति का होना सिद्ध हो सकता है, अन्यथा विना आधार के स्मृति किस में रहे ? इस के अतिरिक्त " मैं स्मरण करता हूं " यह प्रत्यय (जो विना किसी भेद के प्रत्येक मनुष्य को होता है) भी स्मृति का आत्मगुण होना सिद्ध करता है ॥

पुनः उसी की पुष्टि करते हैं:-

२१४-अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य ॥ १५ ॥

उ०-स्मृति विषय का परिगणन न करने से भी (यह शङ्का उत्पन्न हुई है) ॥

स्मृति विषय के विस्तार और तत्त्व पर ध्यान न देकर प्रतिवादी ने यह आक्षेप किया है कि " स्मर्त्तव्य विषयों को स्मरण करना स्मृति का काम है " वास्तव में स्मृति का विषय बड़ा लम्बा और गहरा है। " मैंने इस अर्थ को जाना, मुझ से यह अर्थ जाना गया, इस विषय में मुझ से जाना गया, इस विषय का मुझ को ज्ञान हुवा " यह जो चार प्रकार का परोक्षज्ञान है. यही स्मृति का मूल है। इस में सर्वत्र ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों की उपलब्धि होती है, अब प्रत्यक्ष अर्थ में जो स्मृति होती है उस से तीन प्रकार के ज्ञान एक ही अर्थ में उत्पन्न होते हैं। उदाहरण-"जिस को मैंने पहिले देखा था, उसी को अब देख रहा हूं" इस में दर्शन, ज्ञान और प्रत्यय ये तीनों संयुक्त हैं। सो यह एक अर्थ तीन प्रकार के ज्ञानों से युक्त हुवा न तो अकर्तृक है और न नानाकर्तृक किन्तु एक कर्तृक है, क्यों कि एक ही सब विषयों का ज्ञाता अपने सम्पूर्ण ज्ञानों का प्रतिसन्धान करता है। " इस अर्थ को जानूंगा इसको जानता हूं, इसे जाना और अमुक अर्थ की जिज्ञासा करते हुवे बहुत काल तक न जान कर फिर मैंने जाना " इत्यादि ज्ञानों का निश्चय करता है। यदि इस को केवल संस्कारों का फैलाव मात्र ही माना जाय तो हो नहीं सकता, क्यों कि प्रथम तो संस्कार उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं इस के अतिरिक्त कोई संस्कार ऐसा नहीं है जो तीनों काल के ज्ञान और स्मृति का अनुभव कर सके। विना अनुभव के " मैं और मेरा " यह ज्ञान और स्मृति का प्रतिसन्धान उत्पन्न ही नहीं हो सकता। इस से अनुमान किया जाता है कि एक सब विषयों का ज्ञाता प्रत्येक देह में अपने ज्ञान और

स्मृति के प्रबन्ध को फैलाता है। देहान्तर में उसकी प्राप्ति न होने से उसके ज्ञान और स्मृति का प्रतिसन्धान हो नहीं सकता ॥

पुनः शङ्का करते हैं:—

२१५—नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात् ॥ १६ ॥

पू०-आत्मसाधक हेतुओं के मनमें सम्भव होनेसे (कोई और आत्मा) नहींहै॥

देहादि सङ्घात के अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं है, क्योंकि आत्माके साधक जितने हेतु दिये गये हैं वे सब मन में घट जाते हैं, अर्थात् दर्शन और स्पर्शन आदि से मन ही एक अर्थ का ग्रहण करता है, क्योंकि मन सर्वविषयी है। इस लिये मन के अतिरिक्त और किसी आत्मा के मानने की आवश्यकता नहीं है ॥

उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं:-

२१६—ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् ॥ १७ ॥

उ०-ज्ञाता के ज्ञान साधन की उपपत्ति होने से केवल संज्ञा का भेद है ॥

जैसे ज्ञाता के लिये कोई ज्ञान साधन होते हैं, जिस से वह ज्ञान की उपलब्धि करता है। जैसे-आंख से देखता है, नाक से सूङ्घता है, त्वचा से स्पर्श करता है। ऐसे ही मन्ता के लिये मति साधन भी (जिन से वह मनन करता है) होने चाहियें। ऐसा होने पर ज्ञाता की आत्मसंज्ञा न मान कर मनःसंज्ञा मानते हो और मन को मन न कह कर मतिसाधन कहते हो तो यह केवल संज्ञा भेद मात्र है, अर्थ में कुछ भी विवाद नहीं। तात्पर्य इस का यह है कि मनन करने से आत्मा को संज्ञामात्र चाहे मन कहलो, परन्तु वास्तव में ज्ञातृत्व धर्म मन का नहीं हो सकता। यदि उस में ज्ञातृत्वधर्म भी माना जावे तो फिर मनन करने के लिये करणान्तर की कल्पना करनी पड़ेगी। क्योंकि विना करण के कर्त्ता कोई क्रिया नहीं कर सकता ॥

पुनः उसी की पुष्टि करते हैं —

२१७—नियमश्च निरनुमानः ॥ १८ ॥

उ०-नियम भी अनुमान (युक्ति शून्य) है ॥

प्रतिवादी ने यह जो नियम कियाहै कि रूपादि के ग्रहणसाधन चक्षुरादि इन्द्रिय तो हैं, परन्तु सुख दुःख के अनुभव तथा मनन करने का कोई साधन नहीं हैं। यह नियम युक्तिशून्य है क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि रूपादि विषयों से सुख दुःख पृथक् हैं, इस लिये उन के ज्ञान का साधन भी नेत्र आदि इन्द्रियों से भिन्न अवश्य कोई मानना पड़ेगा। जैसे आंख से गन्ध का ज्ञान नहीं होता, उस के लिये दूसरा इन्द्रिय घ्राण माना गया, इसी प्रकार चक्षु और घ्राण दोनों से रस का ग्रहण नहीं होता तब उसके लिये तीसरा इन्द्रिय रसना मानना ही पड़ा। ऐसे ही शेष इन्द्रियों के विषय में समझ लीजिये। इसी प्रकार आंख आदि इन्द्रियों से सुखादि का ग्रहण नहीं होता, अतः उन के ग्रहण करने के लिये भी कोई इन्द्रिय अवश्य मानना पड़ेगा और वह मन है, जिस में एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति हो नहीं सकती अर्थात् जब जिस इन्द्रिय के साथ उस का संयोग होता है तभी तद्विषयक

ज्ञान उत्पन्न होता है और संयोग न होने पर इन्द्रिय के अविकल और सामर्थ होने पर भी ज्ञान नहीं होता। इसलिये पूर्व आत्मसिद्धि के लिये जो हेतु दिये गये हैं, वे मन में कदापि नहीं घट सकते ॥

अब यह बात विचारणीय है कि देहादि सङ्घात से भिन्न जो आत्मा सिद्ध हुवा है, वह नित्य है अथवा अनित्य ? विद्यमान वस्तु नित्य वा अनित्य भेद से दो ही प्रकार का होता है। आत्मा की सत्ता सिद्ध होने पर भी वह नित्य है अथवा अनित्य ? यह सन्देह अवशिष्ट रहता है। देहसे पृथक् होने से पहिले तो आत्मा की स्थिति जिन हेतुओं से उसे सिद्ध किया उन्हीं से सिद्ध होगई। अब देह के नष्ट होने पर भी आत्मा विद्यमान रहता है, इस पक्ष को सिद्ध करते हैं:-

२१८–पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः ॥ १९ ॥

उ०-पहिले अभ्यास की हुई स्मृति के लगाव से उत्पन्न हुवे को हर्ष, भय, शोक की प्राप्ति होने से (आत्मा नित्य है) ॥

तत्काल जन्मा बालक (जिसने इस जन्म में हर्ष, भय और शोक आदि के हेतुओं का अनुभव नहीं किया है) हर्ष, भय और शोक आदि से युक्त देखा जाता है और वे हर्षादि पूर्व जन्म में अभ्यास की हुई स्मृति के अनुबन्ध से ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि विना पूर्वाभ्यास के स्मृति का अनुबन्ध हो नहीं सकता और पूर्वाभ्यास विना पूर्वजन्म के नहीं हो सकता। इससे सिद्ध है कि यह आत्मा इस शरीर के नष्ट होने पर भी शेष रहता है, अन्यथा सद्योजात बालक में हर्षादि की प्रतिपत्ति असम्भव है। इस से आत्मा का नित्यत्व सिद्ध होता है ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:—

२१९–पद्मादिषु प्रबोधसंमीलनविकारवत्तद्विकारः ॥ २० ॥

पू०-पद्मादि में जैसे प्रबोध और संमीलन आदि विकार होते हैं, तद्वत् उस में भी हर्ष, शोक आदि विकार मानने चाहियें ॥

जैसे कमल आदि अनित्य पदार्थों में खिलना और बन्द होना आदि विकार होते हैं, ऐसे ही अनित्य आत्मा में भी हर्ष भय और शोक आदि विकार स्वाभाविक हो सकते हैं। इस दशा में पूर्वजन्म के मानने की क्या आवश्यकता है ? अतएव आत्मा अनित्य है ॥ अब उक्त शङ्का का समाधान करते हैं:—

२२०–नोष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम् ॥ २१ ॥

उ०-पञ्चात्मक विकारों से ऊष्ण शीत वर्षाकाल निमित्तक होने से (पूर्वपक्ष ठीक) नहीं ॥

पञ्चभूतों के विकार कमल आदि का खिलना और बन्द होना भी विना निमित्त के नहीं है। गर्मी, शीत और वर्षा इन मौसमों के कारण से ही पद्मादिकों में प्रबोध और सम्मीलन आदि विकार उत्पन्न होते हैं, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार सद्योजात

बालक के हर्षादि का निमित्त पूर्वाभ्यस्त स्मृति का संस्कारहै। जैसे विना गर्मी आदि निमित्त के कमल का खिलना और बन्द होना आदि विकार नहीं हो सकते, ऐसे ही विना पिछले संस्काररूप निमित्तके तत्काल जन्मे बालक को हर्ष, भय आदि विकारों का होना असम्भव है, अतः आत्मा नित्य है ॥

इसी की पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं:-

२२१-प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥ २२ ॥

उ०-मर कर पूर्वाभ्यासकृत दूध का अभिलाष होने से (आत्मा नित्य है)।

मर कर जब प्राणी जन्म लेता है, तब उसी समय विना किसी शिक्षा वा प्रेरणा के स्वयं दूध पीने लगता है. यह बात बिना पूर्वकृत भोजनाभ्यास के हो नहीं सकती, क्योंकि इस जन्म में तो अभी उस ने भोजन का अभ्यास किया ही नहीं. फिर उस की प्रवृत्ति उस में क्यों कर हुई ? हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि क्षुधा से पीड़ित बालकादि पूर्वकृत आहाराभ्यास के संस्कारों से प्रेरित होकर दुग्धपानादि भोजन करने में प्रवृत्त होतेहैं। विना पूर्वजन्म को माने जातमात्र की भोजनमें प्रवृत्ति हो नहीं सकती। इस से अनुमान होता है कि इस शरीर से पहिले भी शरीर था, जिस में इस ने भोजन का अभ्यास किया था। जब उस शरीर को छोड़ कर यह दूसरे शरीर में आया, तब क्षुधा से पीड़ित होकर पूर्वजन्माभ्यस्त आहार को स्मरण करता हुवा दूध की इच्छा करता है। अतएव देह के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता ॥

इस पर भी शङ्का करते हैं:-

२२२-अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम् ॥ २३ ॥

पू०-लोहे का चुम्बक के प्रति जैसे अभिगमन होता है. तद्वत् उस का भी उपसर्पण हो सकता है ॥

जैसे लोहा अभ्यास के विना ही चुम्बक की ओर जाता है. इसी प्रकार बालक भी आहाराभ्यास के विना ही दूध की इच्छा करता है। इस लिये यह हेतु कि विना पूर्वाभ्यास के भोजन में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, ठीक नहीं ॥

अब उक्त शङ्का का समाधान करते हैं:-

२२३-नान्यत्र प्रवृत्त्यभावात् ॥ २४ ॥

उ०-अन्यत्र प्रवृत्ति न होने से (उक्त हेतु) ठीक नहीं ॥

लोहे और चम्बुक का जो दृष्टान्त दिया गया है वह ठीक नहीं क्योंकि लोहे का चम्बुक के पास जाना किसी निमित्त से है। यदि इस में कोई निमित्त न होता तो लोष्ट आदि भी चुम्बक के पास सरक जाते या लोहा चुम्बक के सिवाय लोष्टादिक के समीप भी आकर्षित हो जाता। यह नियम क्यों है कि चुम्बक लोहे को ही अपने पास खींचता है और किसी को नहीं और लोहा भी चुम्बक के ही पास जाता है और किसी के नहीं ? यह नियम ही इन के उस विशेष सम्बन्ध रूप निमित्त की (जो होने वाली क्रिया का लिङ्ग वा हेतु है) सूचना करता है। बस जैसे लोहे का

चुम्बक के प्रति उपसर्पण अकारण नहीं है, ऐसे ही बालक की स्तन्यपान में प्रवृत्ति भी निष्कारण नहीं है। अब रही यह बात कि वह कारण क्या है ? हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जीवों की भोजन में प्रवृत्ति पूर्वकृत आहार के अभ्यास की स्मृति से होती है तो फिर हम इस दृष्ट कारण को छोड़ कर अदृष्ट की कल्पना क्यों करें । इसलिये आत्मा का नित्य होना सिद्ध है ॥ पुनः इसी की पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं:—

२२४—वीतरागजन्माऽदर्शनात् ॥ २५ ॥

उ०–वीतराग (विरक्त पुरुष) का जन्म न दीखने से (आत्मा नित्य है) ॥

आत्मा के नित्यत्व में दूसरा हेतु यह भी है कि राग (सांसारिक पदार्थों के मोह) में फँसा हुवा प्राणी जन्म लेता है और पूर्वानुभूत विषयोंका अनुचिन्तन करना ही राग का कारण है, सो यह अनुचिन्तन दूसरे जन्म में बिना शरीर धारण किये हो नहीं सकता । यह आत्मा पूर्व शरीर में अनुभव किये विषयों का स्मरण करता हुवा उन में रक्त होता है, यही दोनों जन्मों की सन्धि है अर्थात् पूर्वजन्म का पूर्वतर जन्म से और पूर्वतर जन्म का पूर्वतम जन्म से सम्बन्ध होता है । इस प्रकार चेतन आत्मा का शरीर के साथ अनादि सम्बन्ध है जो कि राग की परम्परा को भी (जिस में अनुबद्ध हुवा प्राणी जन्म लेता है) अनादि सिद्ध करता है । अतएव आत्मा नित्य है ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:—

२२५—सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः ॥ २६ ॥

पू०–सगुण द्रव्य की उत्पत्ति के तुल्य उसकी उत्पत्ति भी (हो जायगी) ॥

जैसे उत्पत्तिधर्मक घटादि द्रव्यों के रूपादि गुण द्रव्योत्पत्ति के साथ ही स्वतः उत्पन्न होजातेहैं, ऐसेही उत्पत्ति धर्म वाले आत्मामें राग भी स्वयं उत्पन्न होजायगा । अतएव जब राग ही उत्पत्ति से पहिले नहीं था, तब उस पर बनने वाली पूर्वजन्म की भित्ति कहीं रह सकती है और जब पूर्वजन्म नहीं तो आत्मा अवश्यमेव नित्य है ॥

अब इसका समाधान करते हैं:—

२२६—न, सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् ॥ २७ ॥

उ०–रागादिकों के सङ्कल्पमूलक होने से (उनकी उत्पत्ति) नहीं (होसकती) ॥

सगुणद्रव्य की उत्पत्ति के समान आत्माकी वा रागकी उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि रागादि सङ्कल्प मूलक हैं । विषयों का सेवन करते हुवे प्राणी जब पूर्वानुभूत विषयों का चिन्तनरूप सङ्कल्प करते हैं, तब राग उत्पन्न होता है । इस से सिद्ध होता है कि उत्पन्न हुवे बालक में भी राग (इच्छा) पूर्वजन्मानुभूत विषयों के स्मरण से उत्पन्न होता है । यदि आत्मोत्पत्ति के कारण से राग की उत्पत्ति होती तो सङ्कल्प से भिन्न राग का कारण होता, परन्तु कार्यद्रव्य के समान न तो आत्मा की उत्पत्ति हो सकती है क्योंकि वह अप्राकृत है और न सङ्कल्प से भिन्न कोई और राग का कारण ही है । इसलिये सगुण द्रव्य की उत्पत्ति के समान इन की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं । यदि सङ्कल्प से अन्य धर्माधर्म लक्षणरूप राग का कारण मानोगे तो भी आत्मा का पूर्व शरीर से संयोग मानना ही पड़ेगा अन्यथा बिना शरीर के

धर्माधर्म की स्थिति हो ही नहीं सकती। अतएव आत्मा नित्य है ॥

यह कहा जा चुका है कि चेतन आत्मा का शरीर के साथ संयोग अनादि है और अपने किये शुभाऽशुभ कर्मानुसार आत्मा को यह शरीर (जो सुख दुःख का अधिष्ठान है) मिलता है। अब उस शरीर की परीक्षा की जाती है कि वह प्राणादि के समान एक प्रकृति है अथवा नानाप्रकृति ?

२२७–पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ॥ २८ ॥

उ०-(मनुष्य का शरीर) पार्थिव है, गुणान्तर की उपलब्धि होने से ॥

पृथिवी के विकार को पार्थिव कहते हैं, पृथिवी के गुण गन्ध काठिन्यादि की उपलब्धि शरीर में भी होती है। यद्यपि केवल पृथिवी से हो नहीं, किन्तु पञ्चभूतों के संयोग से शरीर बनता है, तथापि जलादि अन्य भूत इस के निमित्त कारण हो सकते हैं, उपादान नहीं। क्योंकि पृथिवी के परमाणुओं में उन का संयोग होने से शरीर बनता है। जल, तेज वायु सम्बन्धी शरीर अन्य लोकों में होंगे, परन्तु उन में भी अन्य भूतों का संयोग अनिवार्य है। तात्पर्य यह है कि अस्मदादि के शरीर यद्यपि पञ्चभूतों के संयोग से बने हैं, तथापि पृथिवी के परमाणुओं का विशेष सम्बन्ध होने से पार्थिव प्रधान है ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:—

२२८–श्रुतिप्रामाण्याच्च ॥ २९ ॥

उ०-श्रुति के प्रमाण से भी (अस्मदादि के शरीर पार्थिव हैं) ॥

"सूर्यन्ते चक्षुर्गच्छतात्" इस श्रुति में "पृथिवीं ते शरीरम्" कहा गया है। मृतशरीर के प्रति यह उक्ति है अर्थात् तेरी आंख सूर्य में जावे और तेरा शरीर पृथिवी में मिलजावे इत्यादि। अतएव "नाशः कारणलयः" इस सांख्य मतके अनुसार कार्य का अपने कारण में लीन होजाना ही नाश कहाता है। इस श्रुति के प्रमाण से सिद्ध है कि शरीर रूप कार्य का उपादान कारण पृथिवी है, तभी तो उस के नाश होने पर उसका पृथिवी में मिलना बन सकता है। यह श्रुति या तो किसी शाखान्तर की है। या (सूर्यं चक्षुर्गच्छतु०) ऋग्वेदमन्त्र में पाठान्तर होगया है ॥

आत्मा और शरीरकी परीक्षा होचुकी, अब क्रमप्राप्त इन्द्रियोंकी परीक्षाकी जाती है। प्रथम इसका विचार किया जाता है कि इन्द्रिय भौतिक हैं, अथवा अभौतिक ?

२२९–कृष्णसारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरिच्य चोपलम्भात् संशयः ॥ ३० ॥

पू०-आंख की पुतली होने पर तथा उसके पृथक् होनेपर (रूप की) उपलब्धि होने से संशय होता है ॥

आंख की पुतली भौतिक है, उसके स्वस्थ होने पर रूप की उपलब्धि होती है और नष्ट होने पर नहीं होती, इस लिये ये भौतिक गोलक ही इन्द्रिय हैं, एक पक्ष तो यह हुआ, दूसरा यह है कि आंख की पुतली का विषय से जब कुछ अन्तर (फ़ासला) होगा तभी उसका उपलम्भ (ग्रहण) होसकेगा और यदि कोई वस्तु आंखकी

पुतली से मिलादी जाय तो कदापि उसका ग्रहण न हो सकेगा। बस अप्राप्त और दूर की वस्तु को ग्रहण करना भौतिक पदार्थ का धर्म नहीं होसकता, इसलिये इन्द्रिय अभौतिक हैं। अब इस संशय का आंशिक समाधान करते हैं:-

२३०—महदणुग्रहणात् ॥ ३१ ॥

उ०-छोटे (और) बड़े (पदार्थोंको) ग्रहण करनेसे (इन्द्रिय अभौतिक हैं) ॥

इन्द्रिय भौतिक नहीं हैं इसलिये कि उन से बड़े से बड़े और छोटे से छोटे पदार्थों का भी ग्रहण होता है। आंख जिस प्रकार वृक्ष और पर्वत जैसे बड़े पदार्थों को देख सकती है उसी प्रकार राईके दाने जैसे छोटे पदार्थोंको भी देखती है। भौतिक पदार्थ में यह बात नहीं हो सकती, क्योंकि वह अपने से अधिक परिमाण वाले द्रव्यों में व्यापक नहीं हो सकता। यह बात केवल अभौतिक पदार्थ में ही हो सकती है कि वह छोटे बड़े सब पदार्थों में व्याप्त हो सकता है। अतएव छोटे बड़े सब पदार्थों को ग्रहण करने से इन्द्रिय अभौतिक हैं ॥

अब उक्त समाधान का प्रतिवाद करते हैं:-

२३१—रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम् ॥ ३२ ॥

(आंख की) रश्मि और अर्थ के संयोग विशेष से उन का ग्रहण होता है ॥

छोटेऔर बड़े पदार्थों के ग्रहण होने का कारण आंख की ज्योति और पदार्थ का संयोग विशेष है भौतिक दीपक भी अपनी ज्योति से छोटे और बड़े पदार्थों को प्रकाशित करता है, फिर यदि भौतिक आंख भी ऐसा करे तो आश्चर्य ही क्या है? यदि आंख अभौतिक होती तो आगे पीछे के सब पदार्थों को देख सकती थी, भित्ति का कारण भी उसकी दर्शनशक्ति को नहीं रोक सकता था। इस से सिद्ध है कि इन्द्रिय भौतिक हैं ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:-

२३२—तदनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३३ ॥

उसकी उपलब्धि न होने से (यह हेतु) अहेतु है ॥

पूर्व सूत्र में जो हेतु दियाथा कि आंख की ज्योति और पदार्थके संयोग विशेष से ऐसा होता है उस पर यह आक्षेप करते हैं कि आंख की ज्योति कल्पित है यदि वास्तविक होती तो उसकी उपलब्धि अवश्य होती जैसी कि दीपक की ज्योति प्रत्यक्ष दीख पड़ती है। इससे सिद्ध है कि गोलकके अतिरिक्त आंखमें और कोई ज्योति नहीं॥

अब इस का समाधान करते हैं:-

२३३—नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः ॥ ३४ ॥

उ०-अनुमान से सिद्ध होने वाले (पदार्थ) की (यदि) प्रत्यक्ष से उपलब्धि न भी हो तो भी (वह उसके अभाव) का हेतु नहीं है ॥

संयोग के निवारक आवरण रूप लिङ्गसे जिसका अनुमान किया जाताहै ऐसी आंख की ज्योति का प्रत्यक्ष से ग्रहण न किया जाना उस के अभाव का प्रतिपादक नहींहै। जैसे चन्द्रमा का पिछला भाग और पृथिवी का नीचे का भाग जब अनुमान से

सिद्ध है तो उस का हम को प्रत्यक्ष न दीखना उसके अभाव को सिद्ध नहीं करता। निदान आंख को ज्योति का होना अनुमान से सिद्ध है इस लिये उस का प्रत्यक्ष न दीखना उस के अभाव को सिद्ध नहीं करता ।। पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

२३४-द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः ।। ३५ ।।

उ०-द्रव्य और गुण के धर्म भेद से उपलब्धि का नियम है ।।

बहुत से द्रव्य ऐसे होते हैं कि जिन की प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती, किन्तु वे अपने गुणों से ग्रहण किये जातेहैं । जैसे जल के सूक्ष्य परमाणु जो आकाश में व्यापक रहते हैं, उन को आँख से कोई देख नहीं सकता परन्तु शीतस्पर्श उन का अनुभव कराता है जिस से कि हेमन्त और शिशिर ऋतु उत्पन्न होतेहैं । ऐसे ही अग्नि के सूक्ष्म परमाणु भी जो आकाश में जाकर फैलते हैं, आँख से नहीं दीखते, पर उष्णस्पर्श से ग्रहण किये जाते हैं, जिस के कारण ग्रीष्म और वसन्त ऋतु का प्रादुर्भाव होता है । अतएव द्रव्यमात्र में ही उपलब्धि का नियम नहीं है. किन्तु कहीं २ उस के गुणों से भी यह सम्बन्ध रखता है ।। फिर उसी की पुष्टि करते हैं:-

२३५-अनेकद्रव्यसमवायाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ।।३६।।

उ०-अनेक द्रव्यों के समवाय और रूपविशेष से रूप की उपलब्धि होती है ।।

जहाँ रूप और उसके आश्रय द्रव्य का प्रत्यक्ष होताहै, उसको रूप विशेष कहते हैं, जिस के होने से कहीं रूपका ज्ञान होता है और न होने से कहीं द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती । यह रूप का धर्म उद्भूत नाम से प्रख्यातहै । आँखकी ज्योति में उद्भूतत्व धर्म नहीं है, इसी लिये उसका प्रत्यक्ष नहीं होता । तेज में उद्भूत रूप और स्पर्श यह दोनों देखे जाते हैं, जैसे कि सूर्य की किरणें आँख से; उन का उद्भूत रूप होना और त्वचा से उद्भूतस्पर्श होना प्रत्यक्ष है । किसी २ में रूप का उद्भव और स्पर्श का अनुद्भव देखा जाता है । जैसी कि मन्द दीप की किरणें । आँख से दीप के प्रकाश को देखते हैं परन्तु त्वचा से उष्णस्पर्श का अनुभव दूर से नहीं होता । उद्भूत रूप होने से यह भी प्रत्यक्ष कहलाता है । कोई २ पदार्थ उद्भूतस्पर्श और अनुद्भूत रूप होते हैं जैसा कि उष्णजल, जिस में उष्णता का अनुभव तो होता है परन्तु उस का रूप नहीं दीखता इस लिये यह अनुद्भूतरूप है । ऐसे ही कोई २ पदार्थ ऐसे भी होते हैं कि जिन में रूप और स्पर्श दोनों अनुद्भूत होते हैं जैसी कि आँख की ज्योति । फिर उस की उपलब्धि क्यों कर हो सकती है ?

आँख की ज्योति भी सूर्य और दीप के समान उद्भूतरूप ही क्यों न बनाई गई ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं:-

२३६-कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः ।। ३७ ।।

उ०-इन्द्रियों की रचना कर्मकारित पुरुषार्थ के अधीन है ।।

जैसे चेतन आत्माका काम सुख दुःख आदि विषयोंकी उपलब्धि करना है, ऐसे ही इन्द्रियों का काम आत्मा को उक्त विषयों की उपलब्धि कराना है । जब जीवात्मा सुख दुःखादि के उपभोग में स्वकृत पूर्वकर्मों के अधीन है, तब इन्द्रियगण और उसकी

रचना विशेष कर्म चक्र का अतिक्रमण कैसे कर सकते हैं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों की बनावट जीवात्मा को कर्मानुसार सुख दुःख आदि विषयों की उपलब्धि कराने के लिये है, न कि स्वयं उद्भूतरूप और स्पर्श होने के लिये।

इसी विषय में और भी उपपत्ति देते हैं:-

२३७-अव्यभिचाराच्च प्रतीघातोभौतिकधर्मः ॥ ३८ ॥

उ०-व्यभिचार न होने से प्रतिघात (रुकावट) भूतों का धर्म है॥

जो किसी आवरण के होने से इन्द्रिय की द्रव्य में रुकावट होतीहै, वह भौतिक धर्म है; उस से भूतों में व्यभिचार नहीं होता क्यों कि अभौतिक पदार्थ के लिये कहीं कोई रुकावट नहीं हो सकती। यदि कहो कि आवरण की रुकावट होने से इन्द्रिय भौतिक हैं, तो कहीं पर रुकावट न होने से उस को अभौतिक भी मानना पड़ेगा, जैसे कांच और बिल्लौर आदि का आवरण होते हुवे भी दीपरश्मि रुक नहीं जाती, बटलोई में तली की आड़ होते हुवे भी अग्नि की उष्णता से वस्तु पक जाती है॥

अनुपलब्धि का और भी कारण है:—

२३८-मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः ॥३९॥

उ० मध्याह्न में उल्काप्रकाश की अनुपलब्धि के समान उस की अनुपलब्धि (समझनी चाहिये)॥

उपलब्धिकारणों के होते हुवे भी दिन में सूर्य के प्रकाश से दबे हुवे तारे नहीं दीखते तद्वत् दर्शनसाधनों के रहते हुवे भी किसी अन्य निमित्त से नेत्र की रश्मि का प्रत्यक्ष नहीं होता और वह निमित्त बतला चुके हैं अर्थात् जो पदार्थ अनुद्भूत रूप स्पर्श धर्म वाला है, उस की प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती॥

अत्यन्त अनुपलब्धि से तो अभाव समझा जाता है, अन्यथा कोई कह सकताहै कि मट्टी के ढेले में भी प्रकाश है और वह सूर्य के प्रकाश से तिरोहित हुवा नहीं दीख पड़ता। इस का उत्तर अगले सूत्र में देते हैं:-

२३९-न, रात्रावप्यनुपलब्धेः ॥ ४० ॥

उ०-रात को भी न दीखने से (उक्त कथन ठीक) नहीं है॥

यदि ढेलेमें प्रकाश होता तो रातको तो दीख पड़ता। बस रातको भी न दीखने से ढेले में प्रकाश का अत्यन्ताऽभाव है॥

अब यह शङ्का उत्पन्न होती है कि अनुद्भूतरूप होने से आंख की किरण का प्रत्यक्ष नहीं होता अथवा किसी अन्य पदार्थ से अभिभूत होने से, जैसे कि तारे सूर्य के प्रकाश से अभिभूत होकर नहीं दीखते ? इस के उत्तर में कहते हैं कि:—

**२४०-बाह्यप्रकाशानुग्रहाद्विषयोपलब्धे-
रनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः ॥ ४१ ॥**

उ०-बाह्यप्रकाश की सहायता से विषयोपलब्धि होती है, अतः अनुद्भूत रूप होने से उपलब्धि नहीं होती॥

अनुद्भूतरूप होने से आंख की ज्योति नहीं दीखती, क्योंकि सूर्यादि के प्रकाश की सहायता से आंख देखने में समर्थ होती है, यदि वह नक्षत्रादि के समान उद्भूत-रूप होती तौ बाह्यप्रकाश की अपेक्षा न रखती और यदि किसी से अभिभूत हुवा करती तौ फिर सूर्यादि के प्रकाशमें देखना नहीं बन सकता था, अतएव केवल अनुद्भूत होने से ही आंख की रश्मि का प्रत्यक्ष नहीं होता ॥

पुनः उसी की पुष्टि करते हैं:—

२४१—अभिव्यक्तौ चाभिभवात् ॥ ४२ ॥

उ०-उद्भूतरूप होने पर और बाह्यप्रकाश की अपेक्षा न रखने पर अभिभव (तिरस्कार) होने से भी (नेत्र रश्मिवान् है) ॥

जो रूप अभिव्यक्त (उद्भूत) होता है और बाह्यप्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता उसका अभिभव देखने में आता है । जैसे कि नक्षत्र और दीपादि । इस के विपरीत जो पदार्थ अनभिव्यक्तरश्मि है और बाह्यप्रकाश की अपेक्षा भी रखता है, जैसे कि दूरबीन, उसका अभिभव नहीं होता । इसी प्रकार अनुद्भूत होने से आंखकी ज्योति का प्रत्यक्ष नहीं होता ।। अब इसी विषय में दूसरा हेतु देते हैं:-

२४२—नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च ।। ४३ ॥

उ०-रात्रिचरों की नेत्र ज्योति देखने से भी (आंख में किरण हैं) ॥

रात में विचरने वाले मार्जार आदि जन्तुओं की नेत्रज्योति अन्धेरी में स्पष्ट दीख पड़ती है, अन्यथा अन्धेरे में उन को देख न पड़ता । इस से शेष जन्तुओं में भी अनुमान करना चाहिये ॥

इन्द्रिय और अर्थ के संयोग को उपलब्धि का कारण कहा था अब उस पर शङ्का करते हैं:-

२४३—अप्राप्यग्रहणंकाचाऽभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः॥४४॥

पू०-(इन्द्रियों में विषयों को) प्राप्त न होकर (भी) ग्रहण (करने की शक्ति है) काच बादल और स्फटिक का व्यवधान होने पर (भी) वस्तु की उपलब्धि होने से ॥

मेघ, काच और बिल्लौरका आवरण होते हुवे भी पदार्थ वैसे ही दीखते हैं, जैसे कि विना आवरण के । व्यवधान के होने पर संयोग नहीं रहता, यदि इन्द्रिय और अर्थ का संयोग ही उपलब्धि का कारण होता तौ व्यवधान होने पर कदापि वस्तु का ज्ञान न होना चाहिये था परन्तु होता है । इस से सिद्ध है कि इन्द्रियों में अप्राप्य-ग्राहकत्व है, अतएव वे अभौतिक भी हैं क्योंकि केवल प्राप्त को ग्रहण करना अभौतिक का धर्म है ॥ अब उक्त शङ्का का समाधान करते हैं:-

२४४—न, कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ॥ ४५ ॥

उ०-भित्ति के आवरण में उपलब्धि न होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं । (इसलिये) इन्द्रिय और अर्थ का संयोग ही उपलब्धि का कारण है, इस का खण्डन नहीं हो सकता ॥

यदि इन्द्रिय अप्राप्तको ग्रहण करते होते तो भित्ति (दीवार) का आवरण होने पर भी वस्तु की उपलब्धि होती और यदि इन्द्रिय प्राप्त को ही ग्रहण करते होते तो काच और बिल्लौर आदि के व्यवधान में भी उपलब्धि न होनी चाहिये थी ।

इसका उत्तर देते हैं:-

२४५—अप्रतिघातात्सन्निकर्षोपपत्तिः ॥ ४६ ॥

उ०-प्रतिघात न होने से सँयोग की उपपत्ति (सिद्धि) है ॥

काच और स्फटिक आदि स्वच्छ होने से नेत्र की रश्मि को पदार्थ में जाने से नहीं रोकते, अतएव उन के आवरण होने पर भी संयोग का प्रतिघात (प्रतिबन्ध) नहीं होता । पुनः दृष्टान्त से इसी की पुष्टि करते हैं:-

२४६—आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरेऽपि दाह्येऽविघातात् ॥४७॥

उ०-सूर्य की किरण से (कुम्भादि में, दीप किरण के) स्फटिकादि में और (अग्नि तेज के) दाह्य वस्तु में प्रतिघात न होने से (संयोग सिद्ध है) ॥

इस सूत्र में भाष्यकार ने " अविघातात् " इस हेत्वर्थक पञ्चम्यन्त पद का सूत्रस्थ प्रत्येक पद के साथ अन्वय किया है और उस के पृथक् २ ही उदाहरण भी दिये हैं। यथा-सूर्य की किरण घड़े के भीतर जाने से नहीं रुकती इसी कारण घड़े का जल गरम होजाता है, सँयोग होने से ही कुम्भस्थ जल में सूर्य की उष्णता का प्रभाव हो जाता है जिस से जल का अपना गुण शैत्य दब जाता है । इसी प्रकार स्फटिकादि में दीप करणों का अवरोध नहीं होता, प्रत्युत काचादि का आवरण होने से दीप का प्रकाश और भी स्वच्छ हो जाता है । काचादि का आवरण होते हुवे भी प्रकाश और प्रकाश का संयोग मानना पड़ता है, अन्यथा रूपोपलब्धि नहीं हो सकती । ऐसे ही बटलोई में डाली हुई वस्तु अग्नि के तेज से पक जाती है अर्थात् तली का व्यवधान होते हुवे भी अग्नि का दाह्य वस्तु से संयोग हो जाता है । यदि संयोग न होता तो उसका दशान्तर क्यों होता । बस जैसे कुम्भादि सूर्य की किरणों को, स्फटिकादि दीपकिरण को और स्थाल्यादि अग्नि के तेज को नहीं रोकते, ऐसे ही काचादि नेत्र की ज्योति को भी नहीं रोकते । अतएव संयोग अप्रतिहित है ॥

अब पुनः इस पर आक्षेप करते हैं:-

२४७—नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात् ॥ ४८ ॥

पू०-एक दूसरे के धर्म के प्रसङ्ग से (अविघात) ठीक नहीं ॥

प्रतिवादी कहता है कि तुम्हारा कहा अविघात ठीक नहीं है, क्योंकि काचादि और कुड्यादि के धर्म परस्पर विरुद्ध हैं । काचादि के ही समान कुड्यादि में भी अप्रतिघात क्यों नहीं होता ? यद्वा कुड्यादि के ही तुल्य काचादि में भी प्रतिघात क्यों नहीं होता ? इस का क्या कारण है ?

अब उक्त आक्षेप का दृष्टान्त से समाधान करते हैं:-

२४८-आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद्रूपोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥ ४९ ॥

उ०-(जैसे) दर्पण और जल का स्वच्छस्वभाव होने से रूपकी उपलब्धि (होती है, वैसे ही) उसकी उपलब्धि (होती है) ॥

जैसे स्वच्छस्वभाव होने से दर्पण और जलमें मुखादिरूप की उपलब्धि होती है ऐसे ही स्फटिकादि के भी स्वच्छस्वभाव होने से नेत्र की रश्मि उस के भीतर प्रवेश कर जाती है और फिर लौट आकर प्रतिबिम्ब का ग्रहण कराती है, इस लिये सँयोग का प्रतिघात नहीं होता, परन्तु भित्ति आदि में मलिनस्वभाव होने से प्रतिबिम्ब को धारण करने की शक्ति नहीं है अतएव काचादि और कुड्यादि के स्वभाव में महान् अन्तर होने से पदार्थों का प्रभाव इन पर एकसा नहीं पड़ सकता ।'

प्र०-दर्पणादि के समान आंख की ज्योति के मानने में क्या प्रमाण है ?

२४९-दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ ५० ॥

उ०-देखे और अनुमान किये अथवा लिङ्ग देख कर अनुमान किये पदार्थों का नियोग और प्रतिषेध नहीं हो सकता ॥

प्रमाणों से जो प्रमेयों की परीक्षा करना चाहता है, वह उन के विषय में जब तक कि उन की सिद्धि न हो जावे नियोग (यह ऐसा ही है) और प्रतिषेध (यह ऐसा नहीं है) नहीं कह सकता, क्योंकि यह हो नहीं सकता कि रूप के समान गन्ध भी नेत्र का विषय हो जावे अथवा गन्ध के तुल्य रूप भी नेत्र का विषय न हो, तथा धुवें से जैसे अग्नि का अनुमान किया जाता है वैसे ही जल का भी किया जाने लगे, यद्वा जैसे जल का अनुमान नहीं होता है, वैसे ही अग्नि का भी हो । बात यह है कि जो पदार्थ जैसे होते हैं वैसा ही उन का स्वभाव भी होता है । प्रतिवादी ने जो यह कहा था कि काचादि के समान कुड्यादि में भी रुकावट न होनी चाहिये तथा कुड्यादि के तुल्य काचादि में भी रुकावट होनी चाहिये, यह नियोग और प्रतिषेध ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ की बनावट और दशा भिन्न२ है जो कि प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध होती है । भित्ति की आड़ रक्खी हुई वस्तु आंख से नहीं दीखती इससे भित्ति में दृष्टि का प्रतिघात होना सिद्ध है । काचादि पदार्थोंमें दृष्टि का अवरोध नहीं होता इस से पदार्थों की उपलब्धि होती है । इसलिये सब पदार्थों में एकसा नियोग और प्रतिषेध नहीं हो सकता ॥

इन्द्रिय परीक्षा समाप्त हुई । अब इस बात का विवेचन किया जाता है कि इन्द्रिय एक है अथवा अनेक ?

२५०-स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानास्थानत्वाच्च संशयः ॥५१॥

पू०-अनेक स्थानोंमें अनेक पदार्थों के होनेसे और एक पदार्थ के अनेक स्थानों में होने से संदेह (होता है) ।।

बहुत से द्रव्य ऐसे हैं कि जो पृथक्२ रूपसे अनेक स्थानों में देखे जातेहैं. जैसे शरीर के हस्तपादादि अवयव। और कहीं पर एक ही द्रव्य अनेक स्थानोंमें देखा जाता है जैसा कि जीवात्मा। अब यहां पर यह सन्देह होता है कि हस्तपादादि अङ्गों के समान इन्द्रिय अनेक हैं अथवा अङ्गी जीवात्मा के समान एक ?

प्रथम पूर्व पक्ष करते हैं किः-

२५१-त्वगव्यतिरेकात् ॥ ५२ ॥

पू०-व्यतिरेक (पार्थक्य) न होने से त्वचा (ही एक इन्द्रिय) है ।।

सब शरीर में व्याप्त होने से त्वचा ही एक इन्द्रिय है क्योंकि शरीर में कोई भी ऐसा इन्द्रिय नहीं है जिस में त्वचा व्यापक न हो। यदि त्वक् न हो तो फिर अन्य इन्द्रियों के होते हुवे भी किसी विषय का ग्रहण नहीं हो सकता। इस लिये सब इन्द्रियों में व्यापक और विषय ग्रहण में निमित्त त्वचा ही को एक प्रधान इन्द्रिय मानना चाहिये ॥ अब इस पूर्व पक्ष का निराकरण करते हैं:-

२५२-नेन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः ॥ ५३ ॥

उ०-अन्य इन्द्रियों के अर्थों की (त्वचा से) अनुपलब्धि होने से (उक्त पक्ष) ठीक नहीं है ।।

स्पर्शग्राहक त्वगिन्द्रिय के होते हुवे अन्य इन्द्रियों के अर्थ रूपादि अन्धादिकों से ग्रहण नहीं किये जाते। यदि प्रतिवादी के कथनानुसार त्वगिन्द्रिय से भिन्न और कोई इन्द्रिय न होता तो अन्धे मनुष्यको स्पर्शके समान रूपका भी ग्रहण होना चाहिये था। जो कि ऐसा नहीं होता, इसलिये त्वचा ही एक इन्द्रिय नहीं है ।।

अब पुनः पूर्वपक्षी अपने कथन की पुष्टि करता है:-

२५३-त्वगवयवविशेषेण धूमोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥ ५४ ॥

पू०-त्वचा के अवयव विशेष से धूम की उपलब्धि के समान उस (रूप) की उपलब्धि (भी हो जायगी) ॥

जैसे त्वचा का एक भाग आंखमें संयुक्त हुवा धुवेंके स्पर्श को ग्रहण कराताहै, वैसे ही उस का दूसरा भाग आंख से मिला हुवा रूपादि को ग्रहण कराता है, उस रूप ग्राहक भाग के उपहत होने से अन्धादिकों को रूप की उपलब्धि नहीं होती। तात्पर्य यह है कि आंख में जो त्वचा का भाग है उस के विकृत् होने से ही दर्शनशक्ति जाती रहती है, अ .एव त्वचा ही एक इन्द्रिय है ॥

अब इसका खण्डन करते हैं :—

२५४-आहतत्वादहेतुः ॥ ५५ ॥

उ०-व्याघात दोष होने से (उक्त हेतु) अहेतु है ॥

प्रतिवादी ने पहिले कहा था कि अव्यतिरेक (अपार्थक्य) होने से अर्थात् सब

शरीर में व्याप्त होने से त्वचा ही एक इन्द्रिय है और अब उस के विरुद्ध यह कहना कि त्वचा के किसी भाग विशेष से धूम की उपलब्धि के समान रूपादि की भी उपलब्धि हो जायगी ये दोनों कथन पूर्वापर विरुद्ध हैं। क्योंकि जब त्वचा अव्यतिरेक भाव से सारे शरीर में व्यापक है तो फिर उस के भाग कैसे? और यदि उसके भाग हैं तो उसका अनन्यभाव से व्यापक होना कैसा? यों तो पृथिव्यादि भूत भी इन्द्रियों में व्यापक हैं क्योंकि उन के अभाव में विषयों का ज्ञान नहीं हो सकता। बस जैसे विषयों के ग्रहण करने में पृथिव्यादि भूत इन्द्रियों के सहायक हैं, अधिक से अधिक ऐसा ही त्वचा को भी मानलो, परन्तु भिन्न २ विषयों के ग्राहक भिन्न २ इन्द्रिय हैं, न कि एक ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

२५५—न, युगपदर्थानुपलब्धेः ॥ ५६ ॥

उ०-एक साथ अनेक अर्थों की उपलब्धि न होने से (एक इन्द्रिय) नहीं है ॥

यदि सर्वविषयक कोई एक ही इन्द्रिय होता तो एक काल में अनेक विषयों की उपलब्धि होनी चाहिये थी, परन्तु ऐसा नहीं होता। इस लिये नाना समयों में नाना अर्थों के ग्राहक इन्द्रिय अनेक हैं। सूत्र सं० ५३। ५४। ५५ अधिक रक्खे गये हैं, इसी लिये वृत्तिकार ने इन पर वृत्ति भी नहीं की। यदि इन को उपेक्षित कर दिया जाय तब भी शास्त्र की सङ्गति में कोई बाधा नहीं पड़ती प्रत्युत और भी उत्तमता से सङ्गति मिल जाती है, परन्तु वात्स्यायन मुनि ने अपने भाष्य में इन को सूत्र मानकर व्याख्यान किया है, इस लिये हमने भी इन को यथास्थान सुरक्षित रक्खा है ॥

फिर भी उसी अर्थ की पुष्टि करते हैं:—

२५६-विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका ॥ ५७ ॥

उ०-विप्रतिषेध होने से भी त्वचा (ही) एक (इन्द्रिय) नहीं है ॥

यदि चक्षुःस्थ त्वचा से अप्राप्त (दूरस्थ=अस्पृष्ट) रूपों का ग्रहण होता है, तो स्पर्शादिकों में भी ऐसा ही मानना पड़ेगा अर्थात् त्वचा के साथ विषय का संयोग न होने पर भी स्पर्श का ज्ञान होगा। जो कहो कि स्पर्शादि प्राप्त हुवे त्वचा से ग्रहण किये जाते हैं और रूपादि विना प्राप्त हुवे भी। ऐसा मानने पर कोई आवरण न रहेगा और आवरण के न रहने पर विषयमात्र का ग्रहण होगा, चाहे उसमें रुकावट हो वा न हो। तथा दूर और समीप की भी कुछ व्यवस्था न रहेगी, कोई वस्तु चाहे कितनी ही दूर हो और कितनी हो उस में रुकावट क्यों न हो, त्वचा से उसकी उपलब्धि माननी पड़ेगी परन्तु यह अनुपपन्न है, इसलिये केवल त्वचा ही एक इन्द्रिय नहीं है ॥

फिर भी इसी की पुष्टि की जाती है:-

२५७—इन्द्रियार्थपञ्चत्वात् ॥ ५८ ॥

उ०-इन्द्रियों के पांच अर्थ होने से (भी त्वचा ही एक इन्द्रिय नहीं है) ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन्द्रियों के ये पांच विषय प्रसिद्ध हैं। त्वचा से केवल स्पर्श का ज्ञान होता है, न कि रूपादि अन्य विषयों का। अतएव रूपादि

अन्य विषयों को ग्रहण करने के लिये चक्षुरादि इन्द्रियों को मानना पड़ता है यदि न माना जाय तो अन्धे को रूप, बधिर को शब्द, घ्राण शक्तिहीन को गन्ध और रसना-वर्जित पुरुष को रस का ज्ञान होना चाहिये क्योंकि त्वगिन्द्रिय इन सब के पास है। परन्तु अन्धे आदिको त्वचाके होते हुवे भी रूपादिका ज्ञान नहीं होता, इसीसे अनुमान होता है कि पांचों भिन्न २ अर्थों को ग्रहण करने वाले पांच ही इन्द्रिय हैं ॥

अब इस पर पुनः शङ्का करते हैः—

२५८—न, तदर्थबहुत्वात् ॥ ५९ ॥

पू०-उनके (इन्द्रियों के) बहुत अर्थ होने से (पांच ही इन्द्रिय) नहीं हैं ॥

इन्द्रियों के अनेक अर्थ होने से पांच इन्द्रियों का मानना ठीक नहीं । यथा—शीतोष्णादि भेदोंसे स्पर्श कई प्रकार का है, ऐसे ही शुक्ल, कृष्ण और हरितादि भेदोंसे रूप भी कई प्रकार का है । इसी प्रकार मिष्ट कटुकादि भेदोंसे रस, सुगन्ध और दुर्गन्ध आदि भेदोंसे गन्ध वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक भेदोंसे शब्द कई प्रकारके हैं। अतएव इन्द्रियों के पांच अर्थ होने से पांच ही इन्द्रिय हैं, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अर्थ बहुत हैं ॥ अब इस का उत्तर देते हैंः—

२५९—गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद्गन्धादीनामप्रतिषेधः ॥ ६० ॥

उ०-गन्धत्वादि (सामान्य धर्म) से गन्धादिकों के पृथक् न होने के कारण निषेध नहीं हो सकता ॥

जैसे स्पर्श तीन प्रकार का है-शीत, उष्ण, और साधारण; परन्तु इन तीनों में स्पर्शत्व रूप सामान्य धर्म एक ही है क्योंकि जो त्वचा शीतस्पर्श को ग्रहण करती है वही उष्ण और साधारण स्पर्श को भी ग्रहण करती है, इसलिये शीतोष्णादि अपने विशेष भेद रखता हुवा भी स्पर्श एक ही है । तो फिर उसके ग्रहण करने वाले इन्द्रिय अनेक कैसे हो सकते हैं ? इसी प्रकार गन्धत्व से गन्ध मात्र का रूपत्व से रूपमात्र का रसत्व से रसमात्र का और शब्दत्व से शब्दमात्र का ग्रहण होने से पांच इन्द्रियों के अतिरिक्त दूसरे साधनों की अपेक्षा नहीं रहती। इसलिये पाँच अर्थ और उनके पांच ही इन्द्रिय का होना सिद्ध है ॥ फिर शङ्का करते हैंः-

२६०—विषयत्वाऽव्यतिरेकादेकत्वम् ॥ ६१ ॥

पू०-(तो फिर) विषयत्व के व्यतिरेक न होने से (इन्द्रिय का) एकत्व होना चाहिये ॥

यदि गन्धत्व के एक होने से सुगन्ध और दुर्गन्ध दो नहीं हैं तो विषयत्व के एक होने से गन्ध रसादि भी एक ही होने चाहियें। क्योंकि विषय शब्द से पांचों का ग्रहण होता है, जब विषयत्व में इन सबकी एकता है तो फिर इन्द्रियत्व में भी एकता होनी चाहिये ॥ अब इस का उत्तर देते हैंः-

२६१—न, बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः ॥ ६२ ॥

उ०-बुद्धिलक्षण, अधिष्ठान, गति, आकृति और जाति के पञ्चधा होनेसे इन्द्रियैकत्व नहीं हो सकता ॥

(१) बुद्धि ज्ञान को कहते हैं सो चाक्षुषादि भेदों से पाँच प्रकार का है। जब ज्ञान पाँच प्रकार का है तब उस के करण भी पाँच ही होने चाहियें न कि एक। (२) इन्द्रियों के अधिष्ठान भी पांच ही हैं-स्पर्श का सब शरीर, रूप का आंख की पुतली, घ्राण का नासाछिद्र, रसना का जिह्वा और श्रोत का कर्णविवर। जब प्रत्यक्ष इन्द्रियों के पाँच भिन्न २ स्थान हैं तब उन का स्थानी एक कैसे हो सकता है? (३) गतिभेद से भी इन्द्रिय पांच ही सिद्ध होते हैं। पुतली में से आंख की रश्मि निकल कर और रूप में परिणत होकर उस का ज्ञान करती है। त्वगादि इन्द्रियों से जब विषय मिलते हैं, तब उन का ज्ञान होता है। शब्द जब क्रमपूर्वक उच्चारण किये जाते हैं तब उन का ज्ञान होता है इत्यादि। (४) आकृति (बनावट) भी पांचों इन्द्रियों की भिन्न २ प्रकार की होने से इन्द्रिय एक नहीं, क्योंकि एक वस्तु के अनेक आकार नहीं होते। (५) जाति (कारण) भी इन्द्रियों के पाँच ही हैं। त्वचा का वायु, चक्षु का तेज, घ्राण का पृथिवी, रसना का जल और श्रोत का आकाश। जब कारण पांच हैं तब उनका कार्य एक कैसे हो सकता है? अतएव पांचही इन्द्रिय हैं ॥

प्र०-यह कैसे जाना गया कि इन्द्रियों के कारण पञ्चभूत हैं अन्य नहीं? इस विषय में कहते हैं:-

२६२-भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ॥ ६३ ॥

उ०-(पञ्च) भूतों के गुणविशेष की उपलब्धि होने से (इन्द्रिय) भूतकार्यहैं। पञ्चभूतों से गन्धादि गुणविशेषों की उपलब्धि प्रत्यक्ष देखने में आती है यथा वायु-स्पर्श, आकाश शब्द, अग्नि रूप, जल रस और पृथिवी गन्ध के अभिव्यञ्जक हैं और यही भूतों के पांच गुण इन्द्रियों के पांच विषय हैं इस से सिद्ध है कि पृथिव्यादि पञ्चभूत ही पांचों इन्द्रियों के कारण हैं, न कि इन का कोई अन्य कारण है ॥

अब इन पञ्चभूतों के गुण दिखलाये जाते हैं:-

२६३-गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्या, अप्तेजोवायूनां पूर्वपूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः ॥६४॥

उ०-गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्दों में स्पर्श पर्यन्त पृथिवी के (गुण हैं) जल, तेज और वायु के पहिला २ छोड़ कर और आकाश का पिछला गुण है ॥

गन्ध, रस, रूप, और स्पर्श ये ४ गुण पृथिवी के हैं। रस, रूप और स्पर्श ये ३ गुण जल के, रूप और स्पर्श ये २ गुण अग्नि के, स्पर्श वायु का और शब्द आकाश का गुण है ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:-

२६४-न, सर्वगुणानुपलब्धेः ॥ ६५ ॥

पू०-सर्व गुणों की उपलब्धि न होने से (यह नियम) ठीक नहीं ॥

यह गुणों की व्यवस्था ठीक नहीं है क्योंकि जिस भूत के जितने गुण कहेगये हैं उन सब को उपलब्धि उस में नहीं होती। यथा-पार्थिव इन्द्रिय घ्राण से केवल गन्ध का ही ग्रहण होता है न कि रस रूप और स्पर्श का। एवं आप्य इन्द्रिय रसना से केवल रस का ग्रहण होता है, न कि रूप और स्पर्श का। तथा तैजस इन्द्रिय चक्षु से केवल रूप का ग्रहण होता है, न कि स्पर्श का। जिस भूत में जिस गुण की उपलब्धि ही नहीं होती वह उस का गुण कैसे हो सकता है?

पुन: इस शङ्का की पुष्टि करते हैं:—

२६५-एकैकस्यैवोत्तरगुणसद्भावादुत्तरोत्तराणां तदनुपलब्धिः ६६

पू-पिछले २ भूतों में एक २ भूत का एक २ ही पिछला २ गुण होने से उस की अनुपलब्धि है॥

पृथिवी जल, तेज, वायु और आकाश, इन पञ्चभूतों में और गन्ध रस, रूप स्पर्श और शब्द इन पांच गुणों में एक २ भूत का क्रमशः एक २ ही गुण है। जैसे पृथिवी का गन्ध, जल का रस, तेज का रूप, वायु का स्पर्श और आकाश का शब्द। इस लिये अपने २ गुण की ही इन में उपलब्धि होती है न कि अन्य के गुण की॥

अब इस का पाक्षिक समाधान करते हैं:-

२६६-संसर्गाच्चानेकगुणग्रहणम् ॥ ६७ ॥

उ०-संसर्ग से अनेक गुणों का ग्रहण होता है॥

पांचों भूत आपस में मिले हुवे हैं। अतएव एक दूसरे के संसर्ग से उनमें अन्य भूतों के गुण भी उपलक्षित होते हैं। यथा-जलादि के संसर्ग से पृथिवी में रसादि भी पाये जाते हैं। ऐसे ही औरों में भी एक दूसरे के गुण मिश्रित हैं॥

यदि ऐसाहै तो फिर संयोग में इसका कुछ नियम न होनेसे चार गुण पृथिवी में, तीन गुण जल में, दो गुण तेज में और एक गुण वायु में कैसे सिद्ध होंगे?

इस का उत्तर अगले सूत्र में देते हैं:-

२६७-विष्टं ह्यपरं परेण ॥ ६८ ॥

उ०-पहिला पिछले से मिला हुवा है॥

पृथिव्यादि पांचों भूतों में पहिला २ पिछले २ से मिला हुवा है अर्थात् पहिली पृथिवी में पिछले जल, तेज और वायु के गुणों का संयोग होने से वह चार गुण वाली कहाती है, इसी प्रकार पहिले जल में पिछले तेज और वायु के गुणों का समावेश होने से वह तीन गुण वाला है। शेष भूतों में भी पहिले २ महाभूत पिछले २ के गुणों से संयुक्त हैं, इस लिये संयोग में अनियम नहीं है॥

अब सिद्धान्त सूत्र द्वारा पूर्व तीन सूत्रों का निराकरण करते हैं:—

२६८-न, पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् ॥ ६९ ॥

उ०-(उक्त गुणनियम) ठीक नहीं है, पार्थिव और आप्य द्रव्यों के प्रत्यक्ष होनेसे ॥

एक भूत का एक ही गुण है यह नियम ठीक नहीं। यदि एक भूत का एक ही अपना गुण होता तो पार्थिव और जल सम्बन्धी द्रव्यों की प्रत्यक्ष उपलब्धि न होती क्योंकि रूप गुण अग्निका है इसलिये केवल आग्नेय पदार्थोंका ही प्रत्यक्ष होना चाहिये। परन्तु प्रत्येक चक्षुष्मान् आग्नेय द्रव्यों के ही समान पार्थिव और आप्य द्रव्यों में भी रूपको ग्रहण करता है, इसलिये यह मन्तव्य कि सँसर्ग से अनेक गुणों का ग्रहण होता है, ठीक नहीं। यदि कहो कि अग्नि के रूप गुण से ही इनका प्रत्यक्ष होता है तो वायुका भी होना चाहिये, यदि इसमें कोई नियम है तो उसका कारण बतलाना चाहिये। यद्वा पार्थिव और आप्य रस के भी प्रत्यक्षतया भिन्न २ होने से उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि पार्थिव रस ६ प्रकार का है और जल में केवल एक ही मधुर रस है। यह बात भी संसर्ग से नहीं हो सकती। अथवा इन दोनों के रूप में भी प्रत्यक्ष भेद अवगत होने से पूर्वोक्त पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि पृथिवी में हरा पीला लाल आदि अनेक प्रकार का रूपहै परन्तु जल में केवल सामान्य श्वेत रूप ही है, यह भी संसर्गकृत नहीं है। सूत्र में पार्थिव और आप्य उपलक्षण मात्र हैं, इसी प्रकार पार्थिव और तैजस द्रव्यों के स्पर्श में भी महान् अन्तर देखा जाता है। इसलिये यह कथन कि भूतों के परस्पर संसर्ग से एक दूसरे के गुण उन में पाये जाते हैं, ठीक नहीं ॥

अब जब कि गन्ध के अतिरिक्त रसादि भी पृथिव्यादि के गुण हैं तो घ्राणादि से उन का ग्रहण क्यों नहीं होता? इस पर कहते हैं:-

२६९-पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्तत्तत्प्रधानम् ॥ ७० ॥

उ०-पहिले पहिले गुण के उत्कर्ष से वह वह प्रधान है ॥

गन्ध, रस, रूप और स्पर्श ये चार गुण पृथिवीके हैं. इनमें पहला गन्ध उत्कृष्ट होने से प्रधान है, पिछले तीन अनुत्कृष्ट होनेसे अप्रधान। ऐसे ही रस रूप और स्पर्श ये तीन गुण जल के हैं, जिनमें पहिला रस प्रधान और पिछले दो अप्रधान। एवं रूप और स्पर्श ये दो गुण तेज के हैं जिनमें पहिला मुख्य और दूसरा गौण है। बस इनमें जो जिसका प्रधान गुण है वही उसके इन्द्रियसे ग्रहण किया जाता है, अप्रधान नहीं। यही कारण है कि एक इन्द्रिय से अनेक गुणों का ग्रहण नहीं होता ॥

पुनः उक्तार्थ की ही पुष्टि करते हैं:-

२७०-तद्व्यवस्थानन्तु भूयस्त्वात् ॥ ७१ ॥

उ०-उन गुणों की व्यवस्था बाहुल्य से है ॥

पृथिवी के चार गुण होते हुवे भी जो उस में गन्ध की व्यवस्था की गई है वह पृथिवी में गन्ध गुण की बहुतायत होने से है अर्थात् जलादि से असंयुक्त पृथिवी में भी गन्ध की उपलब्धि होती है ॥

अपने २ गुणों को इन्द्रिय विना उन की सहायता के क्यों नहीं ग्रहण करते? इस पर कहते हैं:-

२७१–सगुणानामिन्द्रियभावात् ॥ ७२ ॥

उ०-गुणें के सहित इन्द्रियें का इन्द्रियत्व होने से ॥

अपने गुण गन्धादि को घ्राणादि क्यों नहीं ग्रहण करते ? इस का कारण यह है कि अपने गुणों को लेकर ही घ्राणादिकों में इन्द्रियत्व है, क्योंकि घ्राण अपने गुण गन्ध की सहायता से ही बाहर के गन्ध को ग्रहण करता है, यदि उसे अपने सहकारी गन्ध की सहायता न हो तौ वह कदापि उस का ग्रहण नहीं कर सकता ऐसा ही और इन्द्रियों में भी समझना चाहिये ॥

यदि कहो कि जब गन्ध घ्राण का सहायक है, तौ वह फिर उस का ग्राह्य कैसे होता है ? इस शङ्का का समाधान करते हैं:-

२७२–तेनैव तस्याऽग्रहणाच्च ॥ ७३ ॥

उस ही से उस का ग्रहण नहीं होता ।

इन्द्रिय अपने गुणें के या उनके कारण भूतें की सहायता के विना अपने गुणें का ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि केवल उस ही से उस का ग्रहण नहीं होता । जैसे कोई कहे कि आँख जैसे बाहर के पदार्थों को दिखलाती है वैसे ही अपने को क्यों नहीं दिखलाती । इसका भी उत्तर यही है कि बाह्यरूप की सहायता न होनेसे । तद्वत् कार्य कारण रूप अपने २ गुणें की सहायता न होने से इन्द्रिय भी अर्थों की उपलब्धि में असमर्थ हैं ॥ अब इस पर शङ्का-करते हैं:-

२७३–न, शब्दगुणोपलब्धेः ॥ ७४ ॥

शब्द गुण की उपलब्धि होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं है ॥

इन्द्रिय अपने गुणें को ग्रहण नहीं करते, यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि श्रोत्र से विना अपने में स्थित शब्द गुण के भी अपने बाह्य गुण शब्द की साक्षात् उपलब्धि होती है ॥ अब इसका समाधान करते हैं:-

२७४–तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् ॥ ७५ ॥

परस्पर द्रव्यगुणें के वैधर्म्य से उस (शब्द) की उपलब्धि होती है ॥

शब्द गुण से आकाश सगुण इन्द्रिय नहीं है और न शब्द, शब्द का व्यञ्जक है । घ्राणादि शेष इन्द्रियें का अपने गुणें को ग्रहण करना न तौ प्रत्यक्ष है और न अनुमान से ही सिद्ध होता है किन्तु श्रोत्र से शब्द का ग्रहण और शब्द गुणवान् आकाश का होना अनुमान किया जाता है । आत्मा तौ श्रोता है, न कि करण, मनको श्रोत मानने से बहिरेपन का अभाव होगा । पृथिव्यादि चार भूतोंमें भी घ्राणादि इन्द्रियोंको बनाने का सामर्थ्य तौ है, परन्तु श्रोतको नहीं, इसलिये केवल एक आकाशही शेष रह जाता है और वही श्रोत्र इन्द्रिय का कारण है ॥

॥ इन्द्रिय परीक्षा प्रकरण समाप्त हुवा ॥

* इति तृतीयाऽध्याये प्रथममाह्निकम् ॥ ३ । १ ॥ *

अथतृतीयाऽध्यायस्यद्वितीयमाह्निकमारभ्यते

इन्द्रिय और उनके अर्थों की परीक्षा हो चुकी, अब बुद्धि की परीक्षा का आरम्भ किया जाता है। पहिले इस बात का विचार करते हैं कि बुद्धि नित्य है वा अनित्य ?

२७५—कर्माकाशसाधर्म्यात् संशयः ॥ १ ॥

पू०—कर्म और आकाश के साधर्म्य से संशय होता है ॥

कर्म और आकाश के समान बुद्धि में भी अस्पर्शत्व धर्म है, परन्तु इन दोनों में से कर्म अनित्य और आकाश नित्य है अब यह सन्देह उत्पन्न होता है कि बुद्धि कर्म के समान अनित्य है अथवा आकाश के तुल्य नित्य ? इस सूत्र पर प्रथम बुद्धि के नित्यत्व का पक्ष करते हैं:-

२७६—विषयप्रत्यभिज्ञानात् ॥ २ ॥

पू०-विषयों की प्रत्यभिज्ञा होने से (बुद्धि नित्य है) ॥

प्रत्यभिज्ञा का लक्षण कह चुके हैं, जिस अर्थ को पहिले जाना था उस को अब पुनः अनुभव करता हूं, यह दो ज्ञानोंका एक समयमें जो प्रतिसन्धान करना है इसको प्रत्यभिज्ञान वा प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। यह प्रत्यभिज्ञा विना बुद्धि की नित्यता के नहीं हो सकती क्योंकि जो बुद्धि उत्पत्ति और विनाश वाली होती तो उस में प्रत्यभिज्ञा कभी नहीं रह सकती ज्ञान उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते, फिर उन का प्रतिसन्धान कैसा ? अतः बुद्धि नित्य है ॥ अब इस का खण्डन करते हैं:—

२७७—साध्यसमत्वादहेतुः ॥ ३ ॥

उ०-साध्यसम (हेत्वाभास) होने से (यह हेतु) अहेतु है ॥

जैसे बुद्धि का नित्यत्व साध्य है वैसे ही प्रत्यभिज्ञा की भी सिद्धि अपेक्षित है क्योंकि चेतन (कर्त्ता) के धर्म की उपपत्ति अचेतन (करण) में नहीं हो सकती। ज्ञान, दर्शन उपलब्धि, बोध प्रत्यय और अध्यवसाय; ये सब चेतन के धर्म हैं, चेतन ही पहिले जाने हुवे अर्थ का पुनः अनुभव करता है। इस लिये उस ही का नित्यत्व युक्त है। यदि करण को चेतन मानोगे तो चेतन के स्वरूप का निर्वचन करना पड़ेगा क्योंकि जिस के स्वरूप का निर्देश नहीं हुवा ऐसा आत्मा मानने योग्य नहीं हो सकता। यदि ज्ञानको बुद्धि (अन्तः करण) का धर्म मानोगे तो फिर चेतन (कर्त्ता) का क्या स्वरूप, क्या धर्म और क्या तत्त्व है ? ज्ञान के बुद्धि में वर्त्तमान होने पर यह चेतन क्या करता है ? यदि कहो कि चेतना करता है तो चेतन करना और जानना एक ही बात है। जो कहो कि [पुरुष अनुभव] करता है और बुद्धि जानती है तो यह भी अर्थान्तर नहीं क्योंकि अनुभव करना जानना समझना देखना, प्राप्त होना; ये सब एकार्थवाचक हैं। जो कहो कि बुद्धि जनाती है और पुरुष जानता है, यह सत्य है, पर ऐसा मानने पर ज्ञान पुरुष का गुण है, यही सिद्ध होता है, न कि बुद्धि

(अन्तःकरण) का। यदि दोनों को चेतन मानोगे तो एक का अभाव मानना पड़ेगा क्योंकि शरीररूप अधिकरण में दोनों कर्त्ता नहीं हो सकते। यदि बुद्धि को ज्ञान का साधन माना जाय तो भी विषय की प्रत्यभिज्ञा से उस का नित्यत्व सिद्ध न होगा, क्योंकि करणभेद रहते हुवे भी ज्ञाता के एक होने से प्रत्यभिज्ञा देखी जाती है, जैसे एक आँख से देखी हुई वस्तु को दूसरी आंख से देखते हैं, इसलिये उक्त हेतु से ज्ञाता का ही नित्यत्व सिद्ध होता है न कि बुद्धि का ॥

जो लोग ऐसा मानते हैं कि बुद्धि स्थिर है, उस से विषयानुसार वृत्तियां निकलती हैं जैसे कि अग्नि से चिनगारियां निकलती हैं और वृत्ति और वृत्तिमान् में भेद नहीं है, अब उन का खण्डन करते हैं:-

२७८-न, युगपदऽग्रहणात् ॥ ४ ॥

उ०-एक वार (अनेक विषयों का) ग्रहण न होने से (वृत्ति और वृत्तिमान् एक नहीं है) ॥

यदि वृत्ति वृत्तिमान् में भेद न माना जावे तो वृत्तिमान की स्थिति से वृत्तियों की स्थिरता भी माननी पड़ेगी और वृत्तियों के स्थिर होने से एक समय में अनेक अर्थों का ग्रहण होना चाहिये, परन्तु यह असम्भव है इसलिये वृत्ति और वृत्तिमान् एक नहीं हो सकते ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं ॥

२७९-अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः ॥ ५ ॥

उ०-और प्रत्यभिज्ञा के न रहने पर (वृत्तिमान् का) नाश मानना पड़ेगा ॥

प्रत्यभिज्ञारूप वृत्ति के निवृत्त होने पर वृत्तिमान् की भी निवृत्ति माननी पड़ेगी क्योंकि प्रतिवादी के मत में वृत्ति और वृत्तिमान् दो नहीं है अतः ज्ञान और ज्ञानवान् इन दोनों में अभेद कदापि नहीं हो सकता ॥

अब एक समय में अनेक ज्ञानों के न होने का कारण कहते हैं:-

२८०-क्रमवृत्तित्वादयुगपद्ग्रहणम् ॥ ६ ॥

उ०-(इन्द्रियों के) क्रमवृत्ति होने से युगपद्ग्रहण नहीं होता ॥

परिच्छिन्न (एक देशी) मन का सँयोग इन्द्रियों के साथ क्रमशः होताहै इसी कारण एक वार अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। एक वार अनेक ज्ञान न होने से भी वृत्ति और वृत्तिवान् का भेद सिद्ध है ॥

२८१-अप्रत्यभिज्ञानञ्च विषयान्तरव्यासङ्गात् ॥ ७ ॥

उ०-विषयान्तरासक्ति से अनुपलब्धि होती है ॥

जब किसी विषय में मन अत्यन्त आसक्त होताहै तब दूसरे विषय की उपलब्धि नहीं होती। यह बात भी वृत्ति और वृत्तिमान के अलग २ होने से ही हो सकती है, अन्यथा एक माननेसे व्यासक्ति असंभव है ॥ अब मनके विभुत्व का खण्डन करते हैः-

२८२-न, गत्यऽभावात् ॥ ८ ॥

उ०-गति के अभाव से (विभु पदार्थ में युगपद् ग्रहण) नहीं बनता ॥

यदि मन को विभु मानोगे तो उस में गति का अभाव मानना पड़ेगा और जब गति का अभाव हुवा तो फिर उसका इन्द्रियों के साथ क्रम से संयोग कैसा ? संयोग के अभाव में एक रस मानना पड़ेगा, फिर एक साथ अनेक ज्ञान होने में क्या रोक रहेगी ? कुछ भी नहीं । परन्तु हम प्रत्यक्ष मन का क्रमशः इन्द्रियों के साथ संयोग और विषयान्तरव्यासक्ति देखते हैं इस लिये मन को विभु मानना ठीक नहीं ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:-

२८३-स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्तदन्यत्वाभिमानः ॥ ९ ॥

पू०-स्फटिक में अन्यत्वाभिमान के सदृश उस में अन्यत्व का अभिमान है ॥

जैसे लाल पीले हरे आदि रङ्ग वाले पदार्थों के संयोग से स्वच्छ बिल्लौर लाल पीला हरा आदि दीख पड़ता है । वस्तुतः बिल्लौर केवल श्वेतवर्ण है वैसे ही भिन्न २ विषयों के सम्बन्ध से वृत्ति भी अनेक प्रकार की सी उपलक्षित होती है, वास्तव में वृत्ति एक ही है ॥ अब इस का समाधान करते हैं:-

२८४-न,हेत्वभावात् ॥ १० ॥

उ०-हेतु के अभाव से उक्त कथन ठीक नहीं ॥

स्फटिक का दृष्टान्त ठीक नहीं क्यों कि उस में हेतु का अभाव है । वृत्तियों में भिन्नत्व का अभिमान भ्रान्ति से नहीं होता क्यों कि गन्धादि गुणों के समान उन के ज्ञान भी प्रत्यक्षतया भिन्न २ प्रतीत होते हैं, अतएव यही क्यों न मान लिया जाय कि जैसे गन्धादि गुण भिन्न २ हैं ऐसे ही उन के ज्ञान भी भिन्न २ हैं । यदि कहो कि हेतु का अभाव दोनों के दृष्टान्तों में समान है फिर हमारा ही कथन क्यों नहीं मान लेते ? इस का उत्तर यह है कि इन्द्रिय और अर्थों के सम्बन्ध से क्रमशः ज्ञान उत्पन्न और नष्ट होते हैं इस लिये वृत्तियों के अनेकत्व में गन्धादि का दृष्टान्त बहुत ही उपयुक्त है ॥

स्फटिक दृष्टान्त को न सहता हुवा क्षणिकवादी कहता है:—

२८५-स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनामहेतुः ॥ ११ ॥

पू०-व्यक्तियों के क्षणिक होने से स्फटिक में भी भिन्न २ व्यक्तियों के उत्पन्न होने के कारण (उक्त हेतु) अहेतु है ॥

यह जो कहना था कि बिल्लौर में वस्तु तथा वर्णभेद से अनेकत्व की भ्रान्ति होती है, वास्तव में स्फटिक अपने स्वरूप से अवस्थित है, इस पर क्षणिकवादी शङ्का करता है कि यह हेतु ठीक नहीं क्यों कि सब व्यक्तियों के क्षणिक होने से स्फटिक में भी कोई व्यक्ति उत्पन्न होती है और कोई नष्ट । सब वस्तु क्षणिक हैं इस का प्रमाण वस्तुओं के घटने बढ़ने, शरीरों के संयोग वियोग और आहार के पाक विरेचन आदि से सिद्ध है, वृद्धि उत्पत्ति का कारण है और ह्रास नाश का । अतः पदार्थों के क्षणिक होने से उनका परिणाम भ्रान्तिकृत नहीं किन्तु वास्तविक है । अब इसका उत्तरदेते हैं:-

२८६-नियमहेत्वभावाद् यथादर्शनमभ्यनुज्ञा ॥ १२ ॥

उ०-नियामक हेतु के अभाव से जैसा देख पड़े वैसा मानना चाहिये ।

सब पदार्थों में वृद्धि और नाश का नियम शरीर के ही समान नहीं देखा जाता, न तो यह बात प्रत्यक्ष से सिद्ध होती है और न इस का साधक अनुमान ही है इस लिये जहां जैसा देख पड़े वहां वैसा ही मानना चाहिये । शरीरादि में बढ़ना घटना नियम से देखा जाता है इस लिये उन को क्षणिक मानलो, परन्तु स्फटिकादि में नियम पूर्वक ऐसा नहीं देखा जाता, इस लिये उन को भी क्षणिक मानना ठीक नहीं । जैसे कोई नीम की तिता को लेकर सब वृक्षों को कडुआ कहने लगे वैसा ही तुम्हारा कथन है । इसी की पुष्टी में दूसरा हेतु देते हैं:-

२८७-नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ १३ ॥

उ०--उत्पत्ति और विनाश के कारणों की उपलब्धि होने से (भी) उक्त कथन ठीक नहीं ॥

जैसे वल्मीक आदि में भी अवयवों का बढ़ना रूप उत्पत्तिकारण और घटादिकों में अवयवों का विभाग रूप विनाश कारण देखने में आता है, ऐसे स्फटिकादि में उत्पत्ति और विनाश के कारण जानने में नहीं आते । अतः उनको क्षणिक मानना ठीक नहीं । अब इस पर शङ्का करते हैं:—

२८८-क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद्दध्युत्पत्तिवच्च तदुपपत्तिः ॥ १४ ॥

पू०-दूध के नाश होने पर जैसे कारण की उपलब्धि नहीं होती तथा दही की उत्पत्ति के समान उस की भी सिद्धि (माननी चाहिये) ॥

यह जो कहा कि जिनकी उत्पत्ति और विनाश के कारण जानने में आते हैं, वेही क्षणिक होते हैं, अन्य नहीं । तब उत्पत्ति और विनाश के कारण तो दूध और दही के भी नहीं जान पड़ते तो क्या इन को भी नित्य मानोगे ? बस जैसे दूध और दही में विनाश और उत्पत्ति के अदृश्य कारण माने जाते हैं ऐसे ही स्फटिक में भी मानलो ॥

अब इस का समाधान करते हैं:-

२८९-लिङ्गतोग्रहणान्नानुपलब्धिः ॥ १५ ॥

उ०-लिङ्ग से ग्रहण होने के कारण अनुपलब्धि नहीं है ॥

दूधका नाश और दही की उत्पत्ति लिङ्गसे अनुमान किये जातेहैं; इसलिये उनके कारण की उपलब्धि होती है, परन्तु स्फटिकादि द्रव्यों में तो भिन्न २ व्यक्तियों के उत्पन्न और विनाश होने का कोई लिङ्ग देखने में नहीं आता, इस लिये उन के कारणों का अनुमान नहीं किया जासकता ॥ अब पुनः शङ्का करते हैं:-

२९०-न, पयसः परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात ॥ १६ ॥

पू०-दूधके परिणाम(अर्थात्)गुणान्तर प्रादुर्भाव होने से(उक्त कथन ठीक)नहीं॥

अन्य गुण के प्रादुर्भाव को परिणाम कहते हैं सो दूध में मधुर रस की निवृत्ति और अम्लरस की उत्पत्तिरूप परिणाममात्र होता है न कि द्रव्य का विनाश। अतः सब पदार्थ स्वरूप से सत् हैं, केवल उनमें गुणों का प्रादुर्भाव और तिरोभाव रूप परिणाम होता रहता है ॥ अब इसका उत्तर देते हैं:-

२९१-व्यूहान्तराद्द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम् ॥ १७ ॥

उ०-रचनान्तर से द्रव्यान्तर की उत्पत्तिका दीखना पूर्वद्रव्य की निवृत्ति का अनुमान कराता है ॥

दूधकी रचना अन्य प्रकार की है, जब उससे भिन्न प्रकार की रचना वाला दही बन जाता है तब दूध के अवयवों का विभाग या परिणाम होने से दूध निवृत्त होगया या नष्ट होगया, ऐसा अनुमान होता है। जैसे मिट्टी के अवयवों से घड़ा बनाने पर मिट्टी का नाश और घट की उत्पत्ति मानी जाती है, ऐसे ही दूध से दही बनने पर दूधका नाश और दही की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, अतः परिणाम उत्पत्ति और विनाश का बाधक नहीं हो सकता ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

२९२-क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः ॥ १८ ॥

उ० कहीं विनाश कारणों की अनुपलब्धि होने से और कहीं उपलब्धि होने से (तुम्हारा पक्ष) अनेकान्त है ॥

दूध और दही में विनाश और उत्पत्ति के कारण प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं स्फटिकादि में नहीं होते, इसलिये स्फटिकादि में उत्पत्ति और विनाश सिद्ध करने के लिये दूध और दही का दृष्टान्त देना अनेकान्त होने से सर्वथा अनुपपन्न है। अतः स्फटिकादि के समान बुद्धि वृत्ति की अनेकता भ्रान्तिकृत नहीं, किन्तु वास्तविक है, इससे बुद्धि का अनित्य होना सिद्ध है ॥

अब इस बातकी मीमांसा की जाती है कि आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ इनमें से बुद्धि किस का गुण है ?

२९३-नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् ॥ १९ ॥

उ०-(बुद्धि) इन्द्रिय और अर्थ का (गुण) नहीं, उन के नाश होने पर भी ज्ञान की अवस्थिति होने से ॥

यदि बुद्धि इन्द्रिय वा अर्थ का गुण होती तो उन के विनाश होने पर उस की अवस्थिति नहीं हो सकती थी, परन्तु जब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि चक्षु इन्द्रिय और उसका दृष्ट विषय, यह दोनों नहीं रहते तबभी "मैंने देखाथा" यह ज्ञान शेष रहताहै इस से सिद्ध है कि बुद्धि (ज्ञान) इन्द्रिय वा अर्थ का गुण नहीं है। तो क्या बुद्धि मन का गुण है ? इस का निषेध अगले सूत्र से करते हैं:-

२९४–युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ॥ २० ॥

उ०-और एक साथ अनेक ज्ञेयों की उपलब्धि न होने से मन का (भी गुण बुद्धि) नहीं है ॥

एक साथ अनेक ज्ञानों का न होना मन का लक्षण है, इस से अनुमान होता है कि बुद्धि (ज्ञान) मन का भी गुण नहीं है क्योंकि यदि मन का गुण होता तौ मन में एक ज्ञान के होते दूसरे ज्ञान का अभाव न होता ॥

तौ फिर बुद्धि किस का गुण है? ज्ञाता का। ज्ञाता कौन है?। आत्मा। यद्यपि आत्मा स्वतन्त्र है, तथापि विषयोपलब्धि में वह कारणों की अपेक्षा रखता है, क्योंकि घ्रणादि इन्द्रियों के होने पर ही गन्धादि विषयों का ज्ञान आत्मा को होता है। इससे अनुमान होता है कि अन्तःकरणादि साधन युक्त आत्मा को ही सुखादि का ज्ञान और स्मृति उत्पन्न होती है। बस इस से सिद्ध है कि ज्ञान गुण वाला आत्मा है और सुखादि की उपलब्धि का साधन मन है ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:-

२९५--तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ॥ २१ ॥

पू०-उस के आत्मा का गुण होने पर भी (दोष) बराबर है ॥

आत्मा सब इन्द्रियोंमें व्याप्त है, फिर एक समयमें अनेक ज्ञान क्यों उत्पन्न नहीं होते? अब इस का उत्तर देते हैं:-

२९६(अ)–इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात्तदनुत्पत्तिः ॥ २२ ॥

उ०-इन्द्रियों के साथ मन का सँयोग न होने से उन की उत्पत्ति नहीं होती ॥

जैसे गन्धादि विषयों के ज्ञान में इन्द्रिय और अर्थके संयोग की अपेक्षा है, ऐसे ही इन्द्रिय और मन का सँयोग भी विषयज्ञान में हेतु है। मन अणु होने के कारण एक साथ अनेक विषयोंसे संयुक्त नहीं हो सकता, अतःएव एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होती ॥ पुनः शङ्का करते हैं:-

२९७(ब)–नोत्पत्तिकारणानुपदेशात् ॥ २३ ॥

पू०-उत्पत्ति का कारण न कहने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

बुद्धि की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं बतलाया, मन और इन्द्रियों का संयोग ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्ति हो सकता है, न कि उपादान ॥

अब बुद्धि के आत्मगुण होने में दोष दिखलाते हैं:-

२९७–विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थानेतन्नित्यत्वप्रसङ्गः ।२४।

पू०-विनाश कारण की अनुपलब्धि से (बुद्धि की सर्वदा) स्थिति होने पर उस उसके नित्यत्व की प्रसक्ति होगी ॥

आत्मा नित्य है इसलिये उस के सब गुण भी नित्य मानने पड़ेंगे, जब बुद्धि आत्मा का गुण है तो उस के विनाशकारण का अभाव होगा, विनाश के अभाव में आत्मवत् उसकी सर्वदा अवस्थिति माननी पड़ेगी ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

२९८—अनित्यत्वाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद्विनाशः शब्दवत् ॥२५॥

उ०-बुद्धि के अनित्य होने के कारण ज्ञानन्तर से (उस का) विनाश शब्दवत् (माना जाता है) ॥

बुद्धि का अनित्य होना प्रत्यात्मवेदनीय है, जैसे शब्दान्तर के उत्पन्न होने पर पहिला शब्द नष्ट होजाता है, ऐसे ही दूसरे ज्ञान के उत्पन्न होने पर पहिला ज्ञान नहीं रहता, इसको प्रत्येक मनुष्य जानता है। जब बुद्धि उत्पन्न होकर विनष्ट होने वाली है तब वह नित्य आत्मा का गुण क्यों कर हो सकती है ? इस के अतिरिक्त बुद्धि को आत्मा का गुण मानने से एक काल में अनेक ज्ञान होने चाहियें, क्योंकि ज्ञान के साधन अनेक संस्कार आत्मा में विद्यमान हैं और आत्मा का मनके साथ संयोग भी निरन्तर ही रहता है, फिर क्यों एक साथ अनेक ज्ञान नहीं होते ? इस पर आत्मा और मन के संयोग को निरन्तर न मानने वाला कहता है:-

२९९—ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः ॥ २६ ॥

पू०-ज्ञानसंयुक्त आत्मप्रदेशोंके साथ मन का संयोग होनेसे स्मृति की उत्पत्ति होती है, अतः एक साथ (अनेक ज्ञानों की) उत्पत्ति नहीं होती ॥

ज्ञान से अभिप्राय संस्कार का है अर्थात् शरीर के जिस देश में सँस्कार युक्त आत्मा होता है उस में मन का सँयोग होने से स्मृति उत्पन्न होती है, यही कारण है कि एक समय में अनेक स्मृतियां नहीं होतीं ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

३००—नान्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः ॥ २७ ॥

उ०-मन के अन्तःशरीर वृत्ति वाला होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

मन इस शरीर में अन्तश्चारी है, शरीर के भीतर रहने वाले मन का शरीर के बाहर फैले हुवे ज्ञानसंस्कृत आत्मप्रदेशों के साथ संयोग हो नहीं सकता ॥

फिर शङ्का करते हैं:-

३०१—साध्यत्वादहेतुः ॥ २८ ॥

पू०-साध्य होने से (उक्त हेतु) अहेतु है ॥

जब तक मन का शरीरान्तश्चारी होना सिद्ध न होजाय, तब तक यह अपने पक्ष की सिद्धि में हेतु कैसे हो सकता है ॥ अब इस का समाधान करते हैं:-

३०२--स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ २९ ॥

उ०-स्मर्त्ता का शरीर धारण सिद्ध होने से निषेध युक्त नहीं ॥

जब यह मन किसी बातको स्मरण करना चाहताहै तब एकाग्र होकर सर्वात्मना उस विषय को स्मरण करता है, उस समय स्मर्त्ता का शरीर स्तब्ध और स्थित हो जाता है। यदि मन शरीर के भीतर न होता तो शरीर का स्तब्ध और स्थित होना कैसे बन सकता ? आत्मा और मन के संयोग से जो प्रयत्न उत्पन्न होता है,

वह दो प्रकार का है, एक धारक और दूसरा प्रेरक। मन के शरीर से बाहर निकलने पर धारक प्रयत्न के अभाव से गुरुत्व के कारण शरीर को गिर पड़ना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता, इस से सिद्ध है कि मन के शरीरान्तरवर्त्ती होने से धारक प्रयत्न का अभाव कभी नहीं होता ।। फिर आक्षेप करते हैं:-

३०३-न, तदाशुगातित्वान्मनसः ।। ३० ।।

पू०-मन के शीघ्रगामी होने से (उक्त दोष) नहीं आ सकता ।।

मन शीघ्र गामी है, इसलिये उसका बाहर और भीतर दोनों जगह होना बन सकता है। बाहर आकर वह ज्ञान संस्कारों से मिल कर स्मृति को उत्पन्न कराता है और फिर भीतर जाकर धारक प्रयत्न को उत्पन्न करके शरीर को धारण कराता है ।।

पुनः इसका परिहार करते हैं:-

३०४-न, स्मरणकालाऽनियमात् ।। ३१ ।।

उ०-स्मरणकाल के नियत न होने से (उक्त कथन नहीं बन सकता) ।।

कोई बात शीघ्र स्मरण की जाती है और कोई विलम्ब से, इस से सिद्ध है कि स्मरण का कोई काल नियत नहीं है। बहुत से ऐसे भी विषय हैं कि जिन में बारम्बार और लगातार लगाया हुआ भी मन स्मरण हेतुओं के न होनेसे उनका स्मरण नहीं कर सकता या बहुत देर से करता है, यदि मन बहिर्गामी भी होता तो उस को स्मरण में ऐसी कठिनतायें न होतीं किन्तु उसके लिये क्षिप्रस्मरणीय और चिरस्मरणीय का भेद ही न होता। इसके अतिरिक्त आत्मा के भोगायतन शरीर को अपेक्षा रखता हुवा ही मन और आत्माका संयोग स्मृतिका कारण होसक्ता है, शरीरसे बाहर होकर नहीं ।।

पुनः पूर्वपक्षी कहता है:-

३०५-आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः ।। ३२ ।।

पू०-आत्मा की प्रेरणा, वा अकस्मात्, वा ज्ञानसे संयोग विशेष नहीं होसक्ता ।।

यदि आत्मा किसी अर्थ को जानने के लिये मन को प्रेरणा करे तो वह अर्थ स्मरणीय न रहेगा किन्तु स्मृत्त हो जायगा क्योंकि आत्मा ने पहिले स्मरण करके फिर उसकी प्रेरणा की, अतः आत्मा की प्रेरणा से सँयोग विशेष नहीं होता। इसी प्रकार जब स्मरण करने की इच्छा से युक्त हुवा मन किसी विषय को स्मरण करता है तब यह संयोग विशेष आकस्मिक भी नहीं हो सकता और ज्ञान तो मन में है ही नहीं, फिर उस से संयोग कैसा ? अब इसका परिहार करते हैं:-

३०६-व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषेण समानम् ।। ३३ ।।

उ०-जिस का मन किसी विषय में लगा हुवा है उस के पैर में कांटा चुभने से संयोग विशेष के समान मानना पड़ता है ।।

किसी पुरुष का मन चाहे कैसा ही किसी काम में लगा हुवा हो, यदि उस के पैर में काँटा चुभजाय तो उसे तत्काल दुःख का अनुभव होता है, इस से आत्मा

और मन का संयोगविशेष सिद्ध होता है ॥

अब एक साथ अनेक स्मृति न होने का कारण कहते हैं:-

३०७-प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानामयुगपद्भावाद् युगपदऽस्मरणम् ॥ ३४ ॥

उ०-चित्त की एकाग्रता और लिङ्ग आदि ज्ञानों के एक साथ न होने से एक समय में अनेक स्मरण नहीं होते ।

जैसे आत्मा और मनका संयोग तथा संस्कार स्मृतिके कारणहैं वैसे ही चित्त की एकाग्रता और लिङ्ग आदि के ज्ञान भी कारण हैं और वे सब एक साथ नहीं होते फिर उनसे होने वाली स्मृतियाँ एक साथ कैसे हो सक्ती हैं ?

अब उक्त पक्ष का विशेषदशा में अपवाद करते हैं:-

३०८--प्रातिभवत्तु प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्त्ते यौगपद्यप्रसङ्गः ।३५।

उ०-प्रातिभ ज्ञान के समान चित्त की एकाग्रता की अपेक्षा जिसमें नहींहै, ऐसे स्मार्त ज्ञान में यौगपद्य (एक साथ अनेक ज्ञान होने की) प्रसक्ति होगी ॥

बुद्धि की स्फूर्त्ति को प्रतिभा कहते हैं, उस से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस का नाम " प्रातिभ " है जैसे प्रातिभ ज्ञान अकस्मात् उत्पन्न हो जाता है, ऐसे ही जिसके समाधान आदि की जिसमें अपेक्षा नहीं है ऐसे आकस्मिक स्मरण से उत्पन्न हुवे ज्ञान में तो एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी ॥

अब जो लोग ज्ञान को पुरुष का और इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दुःख को केवल अन्तः करण का धर्म मानते हैं, उन के मत का खण्डन करते हैं:-

३०९ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः ॥ ३६ ॥

उ०-ज्ञाता की प्रवृत्ति और निवृत्ति ही इच्छा द्वेष का मूल होने से (इच्छादि आत्मा के लिङ्ग हैं) ॥

आत्मा पहिले इस बात को जानताहै कि यह मेरा सुखसाधनहै और यह दुःख साधन । फिर जाने हुवे सुखसाधन के ग्रहण और दुःखसाधन के त्याग करने की इच्छा से युक्त हुवा सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति के लिये यत्न करता है । इस प्रकार ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुख और दुःख इन सब का एक के साथ सम्बन्ध है और वह आत्मा है । इस लिये इच्छादि छहों लिङ्ग चेतन आत्मा के हैं, न कि अचेतन अन्तः करण के ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:—

३१०-तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ॥३७॥

पू०-इच्छा और द्वेष के प्रवृत्ति और निवृत्ति का लिङ्ग होने से पृथिवी आदि (भूतों के सङ्घात शरीर) में निषेध नहीं हो सकता ॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति के चिह्न इच्छा और द्वेष हैं अर्थात् इच्छा से प्रवृत्ति और द्वेष से निवृत्ति होती है और ये दोनों इच्छा और द्वेष शरीर के धर्म हैं, क्यों कि इन

का सम्बन्ध चेष्टा से है और चेष्टा का आश्रय शरीर है. अतएव इच्छादि शरीर के ही धर्म हैं ॥ अब उक्त पक्ष में दोष देते हैं:—

३११-परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ॥ ३८ ॥

३१२-कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३९ ॥

उ०-कुठारादिमें आरम्भ और निवृत्ति तथा कुम्भादि में उनकी उपलब्धि न होने से (उक्त हेतु अहेतु है) ॥

यदि आरम्भ और निवृत्ति के होने से इच्छादि शरीर के गुण मानोगे तो कुठार आदि करणों में भी इस की अतिव्याप्ति होगी क्यों कि कुठार आदि में भी आरम्भ और निवृत्ति रूप क्रिया देखने में आती है। इसी प्रकार कुम्भादि में आरम्भ और बालू आदि में निवृत्ति के होने पर भी इच्छा और द्वेष की उपलब्धि उनमें नहीं होती, अतएव इच्छा और द्वेष के प्रवृत्ति और निवृत्ति लिङ्ग हैं, यह हेतु हेत्वाभासहै ॥

प्रतिपक्षी के हेतु का खण्डन करके अब सिद्धान्त कहते हैं:-

३१३-नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ ॥ ४० ॥

उ०-उन (इच्छा और द्वेष) के भेदक तो नियम और अनियम हैं ॥

ज्ञाता (प्रयोक्ता) के इच्छा और द्वेष मूलक प्रवृत्ति और निवृत्ति स्वाश्रय नहीं हैं किन्तु प्रयोज्य (शरीर) के आश्रय हैं। प्रयुज्यमान भूतों में प्रवृत्ति और निवृत्ति होती हैं, सब में नहीं इस लिये अनियम की उपपत्ति है और आत्मा की प्रेरणा से भूतों में इच्छा द्वेषनिमित्तक प्रवृत्ति और निवृत्ति उत्पन्न होतीहैं, विना प्रेरणा के नहीं इस लिये नियम की उपपत्ति है। तात्पर्य्य यह है कि इच्छा और द्वेष प्रयोजक (आत्मा) के आश्रित हैं तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति प्रयोज्य (शरीर) के आश्रित हैं, अतएव इच्छादि आत्मा के लिङ्ग हैं ॥

अब इच्छादि अन्तः करण धर्म न होने में दूसरी युक्ति कहते हैं:-

३१४-यथोक्तहेतुत्वात्पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः ॥ ४१ ॥

उ०-उक्त हेतुसे (तथा) मन के परतन्त्र होनेसे और विना किये हुवे की प्राप्ति होने से भी (इच्छादि) मन के धर्म नहीं हैं ॥

इस सूत्रमें मन शब्द से शरीर, इन्द्रिय और मन तीनों का ग्रहण करना चाहिये। आत्मसिद्धि के अब तक जितने हेतु कहे गये हैं, उनसे इच्छादि का आत्मलिङ्ग होना सिद्ध ही है। उनके अतिरिक्त मन आदि के परतन्त्र होने के भी इच्छादि उनके धर्म नहीं हो सके, क्यों कि मन आदि क्रिया में स्वतन्त्रता से नहीं किन्तु आत्मा की प्रेरणा से प्रवृत्त होते हैं। इसके अतिरिक्त यदि मन आदि को स्वतन्त्र कर्त्ता माना जावे तो अकृताभ्यागम रूप (करै कोई और भरै कोई) दोष आता है, क्योंकि शुभाऽशुभ कर्मों को स्वतन्त्रता से करैं तो ये, और उन का फल जन्मान्तर में भोगना पड़े अन्य अन्तः करण को, और यह हो नहीं सकता ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं-

३१५-परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ॥ ४२ ॥

उ०-परिशेष और उक्त हेतुओं की उपपत्तिसे भी (ज्ञान आदि आत्मा के धर्महैं)॥

जब यह बात उपपत्तियों से सिद्ध हो गई कि ज्ञानादि-इन्द्रिय, मन और शरीर के धर्म नहीं हैं, तब इन से शेष क्या रहता है ? आत्मा । बस आत्मा के धर्म ज्ञानादि स्वतः सिद्ध हो गये । इस के अतिरिक्त इस शास्त्र में अब तक जो आत्मसिद्धि के हेतु दिये गये हैं, यथा—" दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् " इत्यादि, उनसे भी ज्ञानादि आत्मा के ही चिन्ह सिद्ध होते हैं ॥

अब स्मृति का भी आत्मगुण होना प्रतिपादन करते हैं:-

३१६-स्मरणन्त्वात्मनोज्ञस्वाभाव्यात ॥ ४३ ॥

उ०-ज्ञाता का स्वभाव होने से स्मरण भी आत्मा का ही धर्म है ॥

स्मृति ज्ञान के आश्रित है, क्यों कि जाना, जानता हूं जानूंगा इत्यादि त्रैकालिक स्मृतियां ज्ञान के द्वारा ही उत्पन्न होती हैं । जब ज्ञान आत्मा का स्वभाव है अर्थात् ज्ञान और चेतनता का तादात्म्य सम्बन्ध है तब स्मृति जो उस से उत्पन्न होती है, आत्मा के अतिरिक्त दूसरे का धर्म क्यों कर हो सकती है ?

अब जिन २ कारणों से स्मृति उत्पन्न होती है, उन को कहते हैं:-

३१७-प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशय प्राप्त्यव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयाऽर्थित्वक्रियाराग धर्माऽधर्मनिमित्तेभ्यः॥ ४४ ॥

उ-प्रणिधान आदि निमित्तों से (स्मृति उत्पन्न होती है ॥

१-स्मरण की इच्छा से मन को किसी एक विषय में लगा देना प्रणिधान कहलाता है, इस से स्मृति उत्पन्न होती हैं । २-एक ग्रन्थ में अनेक अर्थों के परस्पर सम्बन्ध को निबन्ध कहते हैं, जिस से एक अर्थ का ज्ञान दूसरे अर्थ की स्मृति का हेतु होता है । ३-किसी विषय का बार बार बोध होने से जो तद्विषयक संस्कार उत्पन्न होते हैं उन को अभ्यास कहते हैं । यह भी स्मृति का कारण है । ४-लिङ्ग अर्थात् धूम को देखने से लिङ्गी अग्नि का स्मरण होता है । ५-लक्षण चिन्ह को कहते हैं, जैसे कपि की ध्वजा देख कर अर्जुन का और काषाय वस्त्र देख कर यति का स्मरण होता है । ६-सादृश्य अर्थात् समता जैसे चित्र (फ़ोटो) को देख कर चित्रस्थ व्यक्ति का स्मरण होता है । ७-परिग्रह=स्वस्वामिभाव, जैसे सेवक के देखने से स्वामी और स्वामी के देखने से सेवक का स्मरण होता है । ८-९-आश्रय और आश्रित, ये दोनों एक दूसरे के स्मारक होते हैं जैसे अध्यक्ष अपने अधीन का और अधीन अपने अध्यक्ष का । १०-सम्बन्ध=जैसे गुरु से शिष्य और शिष्य से गुरु का स्मरण होता है । ११-आनन्तर्य=एक काम के पीछे जो दूसरा किया जाय, जैसे ब्रह्मयज्ञ के पश्चात् देवयज्ञ का स्मरण होता है । १२-वियोग=जिस का वियोग

होता है, उस का स्मरण होता है। १३-एक कार्य=यदि अनेक एक काम के करने वाले हैं तो वे परस्पर एक दूसरे के स्मारक होते हैं। १४-विरोध=जिन का आपस में विरोध है वे भी एक दूसरे के स्मारक होते हैं, जैसे सर्प से नकुल का और नकुल से सर्प का। १५-अतिशय=बाहुल्य से, जैसे अतिदर्प से रावण का और अति बल से भीम का स्मरण होता है। १६-प्राप्ति=जिस से जिस को जिसकी प्राप्ति होती है वा होने वाली है वह उस प्राप्ति के निमित्त से उस को स्मरण करताहै। १७-व्यवधान=आवरण, जैसे भित्ति के देखने से यह गृह और म्यान के देखने से खड्ग का स्मरण होता है। १८·१९-सुख, दुःख से इन के हेतु का, २०-इच्छा और २१-द्वेष से इष्ट और अनिष्ट का, २२-भय से, जिस से डरता है, उस का, २३-अर्थित्व से दाता का, २४-क्रिया से कर्त्ता का, २५-राग से जिस को चाहता है, उस का, २६-धर्म और २७-अधर्म से सुख दुःख तथा उन के अदृष्ट कारणों का स्मरण होता है॥

बुद्धि का आत्मधर्म होना सिद्ध कर चुके, अब यह सन्देह होता है कि बुद्धि शब्दवत् उत्पत्ति और विनाश वाली है अथवा कुम्भवत् कालान्तर तक ठहरने वाली है, इन दोनों पक्षों में से पहला पक्ष सिद्ध करते हैं:-

३१८-कर्मानवस्थायिग्रहणात् ॥ ४५ ॥

उ०-अनवस्थायी कर्मके ग्रहण करने से (बुद्धि उत्पत्ति और विनाश वाली है)॥

प्रत्येक अर्थ के लिये बुद्धि नियत है, जब तक जिस अर्थ का सम्बन्ध बुद्धि के साथ रहता है तब तक ही तद्विषयिणी बुद्धि भी रहती है, अर्थ के प्रत्यक्ष होने पर बुद्धि की उत्पत्ति और विनाश होने पर बुद्धि का नाश होजाता है, जैसे जब तक कोई पदार्थ सामने धरा है, तब तक उस का ज्ञान है और जब वह परोक्ष हो जाता है तब उस का ज्ञान भी नहीं रहता, अतएव अस्थायी कर्म की ग्राहक होने से बुद्धि क्षणिक है॥ फिर इसी की पुष्टि करते हैं:-

३१९-बुद्ध्यवस्थानात् प्रत्यक्षत्वे स्मृत्यऽभावः ॥ ४६ ॥

उ०-बुद्धि के अवस्थान से प्रत्यक्ष होने पर स्मृति का अभाव होता है॥

जब तक ज्ञान रहता है, तब तक ज्ञेय पदार्थ प्रत्यक्ष रहताहै, प्रत्यक्ष के विद्यमान होने पर स्मृति उत्पन्न हो नहीं सक्ती। जब तक प्रत्यक्ष है तब तक स्मृति और जब स्मृति है तब प्रत्यक्ष नहीं अतएव बुद्धि अनित्य है॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:--

३२०-अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद् विद्युत्सम्पाते रूपाऽव्यक्तग्रहणवत् ॥४७॥

पू०-अनवस्थायी होने से जैसे बिजली के गिरने पर उस का अस्पष्ट रूप ग्रहण किया जाता है ऐसे ही ज्ञेय का अस्पष्ट ग्रहण होगा॥

यदि बुद्धि उत्पत्ति और विनाश धर्म वाली है तो उस से ज्ञेय का स्पष्ट रूप से ग्रहण न होना चाहिये। जैसे बिजली के गिरते समय उस के प्रकाश के अस्थिर होने से रूप का ज्ञान स्पष्ट नहीं होता, परन्तु बुद्धि से तो द्रव्यों का स्पष्ट ज्ञान होताहै इस लिये यह कथन अयुक्त है॥ अब हम इस का उत्तर देते हैं:-

३२१–हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याऽभ्यनुज्ञा ॥ ४८ ॥

उ०-हेतु के उपादान से प्रतिषेद्धव्य अर्थ का अङ्गीकार है ॥

प्रतिवादी ने जो विजुली का दृष्टान्तरूप हेतु दिया है, उस से ही बुद्धि का अनवस्थित होना सिद्ध है, क्योंकि जैसे विद्युत्प्रकाशके अस्थायी होनेसे केवल उसका ही अव्यक्त ग्रहण होता है न कि उन पदार्थों का जिन पर विजुली का प्रकाश पड़ता है, ऐसे ही बुद्धि के अस्थायी होने से केवल उस का ही अव्यक्त ग्रहण है, न कि बुद्धि-गम्य पदार्थों का । अतएव प्रतिवादी के ही हेतुसे बुद्धि का अनित्य होना सिद्ध है ॥

पुनः उसी अर्थ की पुष्टि करते हैं:-

३२२-प्रदीपार्चिःसन्तत्यऽभिव्यक्तग्रहणवत्तद्ग्रहणम् ॥ ४९ ॥

उ०-दीपज्योति के लगातार स्पष्ट ग्रहण के समान उस का भी ग्रहण होगा ।

यदि हम बुद्धिको विजुली के समान अव्यक्तरूप न मानें किन्तु दीप की ज्योतिके समान व्यक्तरूप भी मानलेवें तब भी तो वह स्थायी नहीं हो सकती । जैसे दीप की ज्योति लगातार नई २ उत्पन्न होती और नष्ट होती जाती है ऐसे ही बुद्धि भी अनेक प्रकार की उत्पन्न हो २ कर नष्ट होती जाती है ॥

बुद्धि की अनित्यता का प्रकरण समाप्त हुवा । अब इस बात का विवेचन किया जाता है कि शरीर में जो चेतनता जान पड़ती है वह शरीर का धर्म है, अथवा किसी अन्य का ? प्रथम सन्देह का कारण कहते हैं:-

३२३-द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः ॥ ५० ॥

पू०-द्रव्य में स्वगुण और परगुण की उपलब्धि से संशय होता है ॥

जल में अपना गुण द्रवत्व और परगुण उष्णत्व पाया जाता है, इस से सन्देह होता है कि शरीर में चेतनत्व पाया जाता है, यह इस का अपना गुण है वा किसी अन्य द्रव्य का ?

चेतनता शरीर का गुण नहीं है, अब यह सिद्ध करते हैं:-

३२४-यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम् ॥ ५१ ॥

उ०-रूपादि गुणों के यावच्छरीरभावी (जब तक शरीर है, तब तक वर्त्तमान) होने से चेतनता शरीर का गुण नहीं है ॥

रूपादिगुणरहित शरीर देखने में नहीं आता परन्तु चेतनाशून्य शरीर देखा जाता है, यदि चेतनत्व शरीर का गुण होता तो वह जब तक शरीर रहता, रूपादिवत् उस से पृथक् न होता, परन्तु वह शरीर के रहते हुवे भी उस से पृथक् हो जाता है, इस लिये शरीर का गुण नहीं ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:-

३२५-न, पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः ॥ ५२ ॥

पू०-पाक से उत्पन्न अन्य गुण की उत्पत्ति होने से, उक्त कथन ठीक नहीं ॥

जैसे पकाने पर कोई द्रव्य श्यामवर्ण होता है फिर स्याही के मिटजाने पर वही

रक्तवर्ण होजाता है, ऐसे ही शरीर में भी कभी चेतनता का अभाव और कभी भाव हो जायगा ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

३२६--प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः ॥ ५३ ॥

उ०-विरोधी गुणों की सिद्धि होने से पाकजों में निषेध नहीं हो सकता ॥

जितने पदार्थों में पूर्व गुण के विरोधी अपर गुण की सिद्धि रहती है, उतनों में पाकज गुण देखने में आते हैं क्योंकि पूर्व गुणों के साथ पाकजन्य गुणों की स्थिति नहीं होती, परन्तु शरीर में चेतना का विरोधी दूसरा कोई गुण देखने में नहीं आता, इसलिये हम उसके भावाऽभाव की कल्पना क्यों करें । यदि चेतना शरीर का गुण होता तो वह जब तक शरीर है तब तक उस में रहती, परन्तु ऐसा नहीं है, इसलिये चेतना शरीर का गुण नहीं ॥ अब प्रकृत अर्थ की पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं:-

३२७--शरीरव्यापित्वात् ॥ ५४ ॥

उ०-शरीरव्यापी होने से (चेतना शरीर का गुण नहीं) ॥

शरीर और शरीर के सब अवयव चेतना से व्याप्त हैं, कहीं पर भी चेतना का अभाव नहीं, इस दशा में शरीर के समान शरीर के सब अवयव भी चेतन मानने पड़ेंगे तो अनेक चेतन हो जायंगे, तब जैसे प्रति शरीर में अनेक चेतनों के होने पर सुख दुःख की व्यवस्था भिन्न २ है, ऐसे ही एक शरीर में भी होनी चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता अर्थात् एक शरीर में सुख दुःख की व्यवस्था भिन्न २ प्रकार की नहीं देखी जाती किन्तु एक ही प्रकार की देखी जाती है, इस लिये चेतना शरीर का गुण नहीं है ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:-

३२८--केशनखादिष्वनुपलब्धेः ॥ ५५ ॥

पू०-केश और नख आदि में (चेतना की) उपलब्धि न होने से उक्त कथन ठीक नहीं ॥

केश और नख आदि में चेतनता का अभाव है, इसलिये यह कथन कि शरीर के सब अवयव चेतनता से व्याप्त हैं, ठीक नहीं ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:—

३२९—त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखादिष्वप्रसङ्गः ॥ ५६ ॥

उ०-शरीर के त्वचा पर्यन्त होने से केश, नख आदि में (चेतनता की) प्रसक्ति नहीं होती ॥

चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थों का आश्रय तथा जीव के सुख दुःख संवेदन का आयतन जो शरीर है, उस की सीमा त्वचापर्यन्त है, केश नखादि उस से बाहर हैं, इसलिये उनमें चेतनता न होने से उस के शरीरव्यापित्व में कोई दोष नहीं आता ॥

इसी अर्थ की पुष्टि में अब दूसरा हेतु देते हैं:—

३३०—शरीरगुणवैधर्म्यात् ॥ ५७ ॥

उ०-शरीर गुणों के साथ वैधर्म्य होने से (चेतनता शरीर का गुण नहीं) ॥

शरीर के गुण दो प्रकार के देखने में आते हैं, एक प्रत्यक्ष-जैसे रूपादि, दूसरे अप्रत्यक्ष जैसे गुरुत्वादि, चेतना इन दोनों से विलक्षण है, मन का विषय होने से इन्द्रियग्राह्य नहीं और ज्ञान का विषय होने से अप्रत्यक्ष भी नहीं । इसलिये शरीर के गुणोंसे विलक्षण होनेके कारण चेतना शरीर का गुण नहीं ॥ अब पुनः शङ्का करते हैं-

३३१--न, रूपादिनामितरेतरवैधर्म्यात् ॥ ५८ ॥

पू०-रूपादिकों के परस्पर वैधर्म्य होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

जैसे शरीरसे वैधर्म्य रखते हुवे रूपादि शरीरके गुण माने जाते हैं, ऐसे ही रूपादि से विलक्षण चेतना शरीर का गुण क्यों नहीं ? अब उक्त शङ्का का समाधान करते हैं:-

३३२—ऐन्द्रियकत्वाद्रूपादीनामप्रतिषेधः ॥ ५९ ॥

उ०-इन्द्रियग्राह्य होनेसे रूपादिकोंके शारीरिकगुण होनेका निषेध नहीं होसकता ।

जैसे परस्पर विरुद्ध धर्म वाले रूप और इन्द्रिय द्वैविध्य (द्वैतभाव) को नहीं छोड़ते, ऐसे ही चेतनता भी यदि शरीर का गुण होती तो द्वैविध्य को न छोड़ती, परन्तु छोड़ती है अर्थात् चेतनता किसी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं की जाती, इसलिये वह शरीर का गुण नहीं । अब यहां पर यह शङ्का होती है कि जब यह सिद्ध कर चुके कि ज्ञान-भूतों, इन्द्रियों और मन का गुण नहीं है, तब इस प्रसङ्ग की क्या आवश्यकता थी कि चेतनता शरीर का गुण है वा नहीं ? क्योंकि यह बात तो स्वयमेव सिद्ध होगई । इस का उत्तर यह है कि जिस बात की कई प्रकार से परीक्षा की जाती है, वह सुनिश्चित हो जाती है और फिर उस में कोई सन्देह नहीं रहता ॥

बुद्धि की परीक्षा होचुकी, अब मन की परीक्षा की जाती है । पहिले यह विचार किया जाता है कि मन प्रति शरीर में एक है वा अनेक ?

ज्ञानाऽयौगपद्यादेकं मनः ॥ ६० ॥

उ०-एक काल में अनेक ज्ञान न होने से मन एक है ॥

एक-इन्द्रिय एक समयमें एकही ज्ञान उत्पन्न करासक्ताहै, यदि एक शरीर में बहुतसे मन होते तो उसका सब इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होनेसे एक कालमें अनेक ज्ञान उत्पन्न होते, परन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिये मन एक ही है ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं-

३३४—न, युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ॥ ६१ ॥

पू०-एक समयमें अनेक क्रियाओं की उपलब्धि होनेसे (उक्तकथन) ठीक नहीं ॥

एक पढ़ने वाला पढ़ता चलता, मार्गको देखता, वनके शब्दों को सुनता, डरता हुवा सर्प के चिह्नों को जानने की इच्छा करता है और जिस स्थान को जाना चाहता है, उसका स्मरण भी करता है । यहाँ क्रम के न होने से एक साथ अनेक क्रिया उत्पन्न होती हैं, इसलिये मन अनेक हैं ॥ अब इसका समाधान करते हैं:-

३३५—अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसञ्चारात् ॥ ६१ ॥

उ०-अलातचक्र (आतिशबाज़ी, की चर्खी के देखने के समान शीघ्र चलने से उसकी उपलब्धि होती है ॥

शीघ्रगामी होने से घूमते हुवे अलातचक्र का विद्यमान क्रम नहीं जाना जाता, केवल एक घूमता हुवा चक्र सा जान पड़ता है। ऐसे ही बुद्धि और क्रियाओं के आशुगामी होने से विद्यमान भी क्रम जाना नहीं जाता, क्रम के न जान पड़ने से एक साथ क्रियायें होती हैं, ऐसा जान पड़ता है। अब यहां पर यह शङ्का होती है कि क्रम के न जानने से एक साथ अनेक क्रियाओं का भान होता है वा वस्तुतः एक साथ अनेक क्रियाओं का ग्रहण होने से ही ऐसा भान होता है? इसका उत्तर पहिले दे चुके हैं कि भिन्न २ इन्द्रियों से क्रमपूर्वक ही भिन्न २ इन्द्रियों का ज्ञान होता है और यह अनुभवसिद्ध होने से अखण्डनीय है॥

इस विषय में दूसरा दृष्टान्त वर्ण, पद और वाक्य का भी है। पहले क्रमपूर्वक वर्णों का उच्चारण होता है, जिससे सार्थक पद बनते हैं। फिर क्रमशः पदों के जोड़ने से वाक्य बनता है, जिस से श्रोता को उसके अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। यद्यपि ये सब काम क्रमपूर्वक होतेहैं तथापि शीघ्रताके कारण क्रमपर ध्यान नहीं दिया जाता॥

अब मन का अणु होना सिद्ध करते हैं:-

३३६-यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु॥ ६३॥

उ०-उक्त हेतु से (मन) अणु भी है॥

एक समय में अनेक ज्ञानों के न होने रूप हेतुसे ही मन का अणु होना भी सिद्ध होता है क्योंकि यदि मन व्यापक होता तो सब इन्द्रियों के साथ उसका संयोग होने से एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न हो जाते, पर ऐसा नहीं होता, इससे मन का अणुत्व भी सिद्ध है॥

मन की परीक्षा हो चुकी, अब इस बात का विवेचन किया जाता है कि शरीर की उत्पत्ति जीवों के कर्माधीन है? अथवा स्वतन्त्र पञ्चभूतों से होती है?

३३७-पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः॥ ६४॥

उ०-पूर्व (शरीर में) किये (कर्मों के) फलों के अनुबन्ध [लगाव] से उस (शरीर) की उत्पत्ति होती है॥

पूर्वजन्म में जो कर्म किये हैं, उनके फलरूप जो धर्माधर्म के संस्कार हैं, उन से प्रेरित हुवे पञ्चभूतों से शरीर की उत्पत्ति होती है, न कि स्वतन्त्र भूतों से। जिस अधिष्ठान में यह आत्मा अहङ्कार से युक्त हुआ भोगों की तृष्णा से विषयों को भोगता हुवा धर्माऽधर्म का सम्पादन करता है, वह इसका शरीर है। धर्माऽधर्म के संस्कारों से युक्त इस भौतिक शरीर के नष्ट होने पर दूसरा शरीर बनता है और बने हुवे इस शरीर की पूर्व शरीर के समान पुरुषार्थ, क्रिया और पुरुष की प्रवृत्ति होती है, यह बात कर्मापेक्ष भूतोंसे ही शरीर की उत्पत्ति माननेसे सिद्ध होसकती है, अन्यथा नहीं॥

अब इस पर नास्तिक शङ्का करता है-

३३८-भूतेभ्योमूर्त्युपादानवत्तदुपादानम्॥ ६५॥

पू०-भूतों से मूर्त्ति की उत्पत्ति के समान उस की (शरीर की भी) उत्पत्ति (माननी चाहिये)॥

जैसे कर्म निरपेक्ष भूतों से रेत, कङ्कर, पत्थर और गेरू आदि पदार्थ बनते हैं, वैसे ही शरीर भी उन से बन सकता है ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:—

३३९-न, साध्यसमत्वात् ॥ ६६ ॥

उ०-साध्यसम होने से (उक्त दृष्टान्त) युक्त नहीं है ॥

जैसे कर्मनिरपेक्ष शरीरोत्पत्ति साध्य है, ऐसे ही कर्मनिरपेक्ष बालू कङ्कर आदि पदार्थों की भी उत्पत्ति साध्य है अतएव साध्यसम (हेत्वाभाव) होने से उक्त दृष्टान्त अयुक्त है । पुनः शङ्का करते हैं:—

३४०-नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ॥ ६७ ॥

३४१-तथाहारस्य ॥ ६८ ॥

पू०-माता पिता तथा आहार के उत्पत्तिनिमित्त होनेसे (कर्मनिमित्त) नहींहै ॥

शरीर की उत्पत्ति माता पिता के रज वीर्य एवं आहार से होती है । जिसको सब जानते और मानते हैं, फिर इन प्रसिद्ध और अनुभवसिद्ध कारणों को छोड़ कर अदृष्ट कर्म को निमित्त मानने में कोई कारण नहीं दीखता ॥ अब इसका उत्तर देतेहैं:-

३४२-प्राप्तौ चानियमात् ॥ ६९ ॥

उ० प्राप्ति में नियम न होने से (उक्त कथन ठीक नहीं) ॥

यदि कर्म की उपेक्षापूर्वक माता पिता और आहारादि शरीरका कारण होते तो सर्वदा और सर्वत्र स्त्री पुरुषों का संयोग गर्भाधान का कारण होता, परन्तु ऐसा नहीं होता, इस से सिद्ध है कि प्रारब्ध कर्मानुसार ही रज वीर्य गर्भ में परिणत होते हैं तथा परिपक्व आहार उस की वृद्धि का कारण होता है ॥

पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

३४३-शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म ॥ ७० ॥

उ०-जैसे शरीर की उत्पत्ति का निमित्त कर्म है वैसे ही (आत्मा और शरीर के) संयोग की उत्पत्ति का निमित्त (भी) कर्म है ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

३४४-एतेनाऽनियमः प्रत्युक्तः ॥ ७१ ॥

उ०-इस से अनियम का खण्डन किया गया ॥

शरीर की रचना में कर्म को निमित्त न मानने से जो अव्यवस्था उत्पन्नहुई थी, उस का पूर्व सूत्र से खण्डन हो गया । वह क्या अव्यवस्था थी ? कोई उत्तम कुल में जन्म लेता, कोई नीच कुल में । किसी का देह उत्तम किसी का निकृष्ट कोई रोगी, कोई नीरोग, कोई सर्वाङ्गसम्पन्न, कोई विकलाङ्ग [अङ्गों हीन] कोई दुःखी कोई सुखी कोई स्वस्थेन्द्रिय, कोई निर्बलेन्द्रिय, कोई पुरुष, कोई नपुन्सक और कोई स्त्री इत्यादि और भी अनेक सूक्ष्म भेद हैं, जो समझ में नहीं आते । ये सब अवस्थाभेद प्रत्येक आत्मा के नियत कर्मों के भेद से सिद्ध होते हैं, कर्म भेद के

अभाव में सब आत्माओं के तुल्य होने से तथा पञ्चभूतों के नियामक न होने से सब आत्माओं के एक जैसे शरीर होने चाहियें थे; पर नहीं हैं। इस लिये शरीर की उत्पत्ति में कर्म निमित्त हैं ॥ इसी पर और पुष्टि करते हैं:-

३४५-उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः ॥ ७२ ॥

उ०-कर्मक्षय की उपपत्ति होनेसे उसका [आत्माका शरीरसे] वियोग सिद्ध है ॥

कर्मापेक्ष शरीर की उत्पत्ति मानने से ही कर्म के नाश होने पर शरीर के साथ आत्माका वियोग भी सिद्ध होता है और जो शरीर की उत्पत्ति में कर्म को निमित्त न मानोगे तौ पञ्चभूतों के नाश न होने से शरीर और आत्मा का वियोग कभी न होगा ॥ अन्य शङ्का करते हैं:-

३४६-तददृष्टकारितमिति चेत्पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे ॥ ७३ ॥

पू०-यदि उस को अदृष्ट (प्रारब्ध) कारित (मानोगे) तौ फिर मोक्ष में भी उस (शरीर) का प्रसङ्ग होगा ॥

यदि भूतों से शरीर की उत्पत्ति को अदृष्टकारित मानोगे अर्थात् प्रारब्ध कर्म को ही शरीरोत्पत्ति का निमित्त मानोगे तौ मुक्ति में भी इस (शरीर प्राप्ति) की प्रसक्ति होगी ॥ अब इसका उत्तर देते हैं:-

३४७-न, करणाकरणयोरारम्भदर्शनात् ॥ ७४ ॥

उ०-करण और अकरण के आरम्भ देखने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

करने और न करने के आरम्भ को देखतेहैं कि आत्मा कर्म करता और नहीं भी करता। बस ज्ञान हो जाने पर कर्म का त्याग मुक्ति में शरीर नहीं होने देगा ॥ और-

३४८-मनःकर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः ॥ ७५ ॥

उ०-मनः कर्म के निमित्त मानने से संयोग का अनुच्छेद होगा ॥

यदि अपने कर्म से मनको ही शरीरोत्पत्ति निमित्त मानोगे तौ संयोग का नाश न होगा, क्यों कि जो मन शरीर और आत्मा के संयोग में हेतु है, वही वियोग का भी कारण हो, सर्वथा अनुपपन्न है ॥ तथा-

३४९-नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रयाणानुपपत्तेः ॥ ७६ ॥

उ०-मरण की अनुपपत्ति होने से नित्यत्व की प्रसक्ति होगी ॥

यदि कर्मनिरपेक्ष भूतों से शरीर की उत्पत्ति मानोगे तौ फिर किस के नाश से रीर काश पतन होगा ? और उस (मरण) के अभाव में शरीर को नित्यत्व का प्रसङ्ग होगा ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं-

३५०-अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत्स्यात् ॥ ७७ ॥

पू०-जैसे परमाणुओं की श्यामता नित्य है वैसे ही यह भी हो जायगा ॥

जैसे परमाणुओं की श्यामता (जो नित्य है) अग्नि संयोग से निवृत्त हुई पुनः

उत्पन्न नहीं होती, ऐसे ही स्वतन्त्र पञ्चभूतोत्पन्न शरीर मुक्ति में पुनः उत्पन्न होगा ॥

अब इस का समाधान करते हैं:-

३५१- नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ॥ ७८ ॥

उ०-अकृताभ्यागम के प्रसङ्ग होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

परमाणुओं की श्यामता के दृष्टान्त से कर्मानपेक्ष शरीर की उत्पत्ति मान ने में अकृताभ्यागम दोष आता है अर्थात् सुख दुःख के हेतु कर्मों के किये बिना ही पुरुष को सुख और दुःख भोगने पड़ते हैं, यह बात प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र के विरुद्ध है। पहिले प्रत्यक्ष का विरोध दिखलाते हैं। प्रत्यात्मवेदनीय होनेसे सुख दुःख भिन्न २ हैं अर्थात् प्रत्येक प्राणी के लिये सुख दुःख की व्यवस्था एक जैसी नहीं है, तब कर्म रूप हेतु के अभाव में प्रत्येक आत्मा के लिये नियत सुख और दुःख का कारण क्या है ?। कारण भेद न होने पर भी कार्य्य भेद क्यों दीखता है ? दूसरे अनुमानका विरोध यह है कि जीवों को यहां बिना यत्न के जो सुख दुःख होते हैं, उन का कोई कारण अवश्य होना चाहिये और दृष्ट कारण कोई देखने में नहीं आता, तब पूर्वजन्मकृत कर्मों के अतिरिक्त और क्या कारण हो सकता है ? कर्म को हेतु न मानने से इस अनुमान का विरोध आता है। अब रहा तीसरा आगम का विरोध, वह यह है कि वेद और अनेक महात्मा ऋषियों ने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का उपदेश किया है, जिसके अनुसार मनुष्य वर्णाश्रम के विभाग से अपने कर्त्तव्य में प्रवृत्त और अकर्त्तव्य से निवृत्त होते हैं, यह बात शरीरोत्पत्ति में कर्म को निमित्त न मानने से सिद्ध नहीं होती। इस लिये प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम का विरोध होने से कर्मानपेक्ष सृष्टि की कल्पना मिथ्या है ॥

इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

समाप्तश्चायं तृतीयाऽध्यायः ॥ ३ ॥
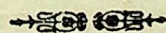
अथ चतुर्थाध्याये प्रथममाह्निकम्

तीसरे अध्याय में कारण रूप आत्मादि ६ प्रमेयों की परीक्षा की गई अब चौथे अध्याय में कार्य रूप प्रवृत्यादि शेष ६ प्रमेयों की परीक्षा की जाती है। प्रथम प्रवृत्ति और दोष की परीक्षा करते हैं।

३५२-प्रवृत्तिर्यथोक्ता ॥ १ ॥ ३५३-तथा दोषाः ॥ २ ॥

जैसे प्रवृत्ति का निरूपण कर चुके हैं वैसे ही दोषों का निर्वचन किया जा चुका है ॥

पहिले अध्यायके १७ वें और १८ वें सूत्र में प्रवृत्ति और दोषोंका वर्णन करचुके हैं, वहीं पर इन की सामान्य परीक्षा भी हो चुकी है, इस लिये यहां उपेक्षा की गई ॥

अब दोषों के भेद कहते हैं:-

३५४-तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ॥ ३ ॥

उन (दोषों) के अवान्तर भेद वाले होनेसे राग, द्वेष और मोह; ये तीन राशि (समूह) हैं ॥

काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा और लोभ, ये राग के अन्तर्गत हैं, क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह और अमर्ष, ये द्वेष के अन्तर्गत हैं और मिथ्याज्ञान, संशय, मान और प्रमाद, ये मोह के अन्तर्गत हैं। इन में से राग प्रवृत्ति मूलक है, द्वेष क्रोध जनक है और मोह मिथ्याज्ञानोत्पादक है। अब इस पर शङ्का करते हैं ॥

३५५-नैकप्रत्यनीकभावात् ॥ ४ ॥

पू०-एक के विरोधी होने से (रागादि भिन्न) नहीं हैं ॥

एक तत्त्वज्ञान राग, द्वेष और मोह इन सब का विरोधी है अर्थात् तत्त्वज्ञान के होते ही ये सब नष्ट हो जाते हैं, इस लिये इन के तीन भेद ठीक नहीं, क्यों कि यदि तीन भेद माने जावें तो फिर इन के प्रतिद्वन्द्वी भी तीन होने चाहियें, जो कि प्रतिद्वन्द्वी इन का एक तत्वज्ञान है, इस लिये इन में भी एकत्व होना चाहिये ॥

अब समाधान करते हैं:-

३५६-व्यभिचारादहेतुः ॥ ५ ॥

उ०-व्यभिचार होने से (उक्त हेतु) अहेतु है ॥

उक्त हेतु में व्यभिचार आता है, क्योंकि श्याम, हरित और पीत आदि वर्णों का एक अग्निसंयोग विरोधी है पर वे सब भिन्न २ हैं, इसी प्रकार राग आदि भी एक विरोधी होने से परस्पर भिन्न रह सकते हैं ॥

अब उन तीनों समूहों में मोह का प्राधान्य दिखलाते हैं:-

३५७-तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः ॥ ६ ॥

उ०-उन में मोह बड़ा पापी है (क्यों कि) जिस को मोह नहीं, उस को इतर (राग द्वेष) नहीं होते ॥

यद्यपि "द्विवचनविभज्योपपदेतरपीयसुनौ ५ । ३ । ५७" इस पाणिनीय सूत्रके अनुसार दो में से एक के निर्धारण में 'तरप्' 'और' 'ईयसुन्' प्रत्यय होते हैं 'तेषाम्' बहुबचन में 'ईयसुन् किया गया है, इस का कारण यह है कि सूत्र कारने राग और मोह में तथा द्वेष और मोह में, ऐसा विभाग मान कर ईयसुन, प्रत्ययान्त 'पापीयान्' पद का प्रयोग किया है। विषयों में रञ्जनीय सङ्कल्प राग के कारण और कोपनीय सङ्कल्प द्वेष के कारण उत्पन्न होते हैं, दोनों प्रकार के सङ्कल्प मिथ्याप्रतिपत्तिरूप होने से मोहजन्य हैं अतः मोह ही राग द्वेष का भी कारण है, तत्त्वज्ञान से मोह की निवृत्ति होने पर राग द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते, अतएव इन तीनों में मोह ही प्रधान है। अब शङ्का करते हैं:-

३५८-प्राप्तस्तर्हि निमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तरभावोदोषेभ्यः ॥ ७ ॥

पू०-तौ फिर कार्यकारण भाव होने से दोषों से भिन्नता प्राप्त होगी ॥

कारण से कार्य भिन्न होताहै, जब कि मोह रागादि दोषों का कारणहै तौ फिर वह आप दोष नहीं हो सकता ॥ अब इस का समाधान करते हैं:-

३५९-न, दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ॥ ८ ॥

उ० मोह के दोषलक्षणों में अविरुद्ध होने से (उक्त कथन) ठीक नही ॥

" प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः " इस सूत्रके अनुसार दोषका लक्षण प्रवृत्ति जनकत्व है, सो इस लक्षण से मोह भी लक्षित है, फिर वह दोष क्यों नही ?

अब कार्यकारण भाव का उत्तर देते हैं:-

३६०-निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानामप्रतिषेधः ॥ ९ ॥

उ० तुल्यजातीय द्रव्योंमें कार्य कारणभावकी उपपत्ति होनेसे (कार्यकारणभाव) बाधक नहीं हो सकता ॥

समान जातीय द्रव्य और गुणों का अनेक प्रकार से कार्यकारणभाव देखने में आता है अर्थात् कोई किसी का कारण होता है और किसी का कार्य । जैसे जल पृथिवी का कारण है और तेज का कार्य, परन्तु इस कार्यकारणभाव के होने से इन के द्रव्यरूप समान जातीयत्व धर्म में कोई बाधा नहीं पड़ती । ऐसे ही मोह के रागद्वेष का कारण होने पर भी उस के दोषत्व में कुछ हानि नहीं पड़ सकती ॥

अब नवम प्रमेय " प्रेत्यभाव " की परीक्षा की जाती है:-

३६१-आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ॥ १० ॥

आत्मा के नित्य होने पर " प्रेत्यभाव " की सिद्धि होती है ॥

पुनः उत्पत्ति का नाम प्रेत्यभावहै, सो वह आत्माके नित्य होने पर ही सिद्धहो सकता है अन्यथा नहीं, क्योंकि नित्य आत्मा पूर्वशरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर का ग्रहण करता है, यह विना आत्मा के नित्यत्वके हो नहीं सकता, जो केवल शरीर की उत्पत्ति और उस के नाश ही को प्रेत्यभाव मानते हैं, उन के मत में कृतहान और अकृताभ्यागम दोष आता है और ऋषियों के उपदेश भी निरर्थक होते हैं ॥

अब उत्पत्ति का प्रकार दिखलाते हैं:-

३६२-व्यक्ताद्व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ॥ ११ ॥

व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होती है प्रत्यक्ष प्रमाण होने से ॥

रूपादिगुणयुक्त इन्द्रियग्राह्य पृथिव्यादि कारणों से वैसेही शरीरादि कार्य उत्पन्न होते हैं, इस में प्रत्यक्ष प्रमाण है, जैसे रूपादि गुणयुक्त मृत्तिकादि द्रव्यों से वैसे ही

घटादि पदर्थों की उत्पत्ति देखने में आती है, इस से अदृष्ट में भी यही अनुमान होता है कि व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होती है ।। अब इस पर शङ्का करते हैंः-

३६३-न घटाद् घटाऽनिष्पत्तेः ॥ १२ ॥

घट से घट की उत्पत्ति न होने के कारण (उक्त कथन) ठीक नहीं ।।

घट से घट की उत्पत्ति नहीं होती, यह भी प्रत्यक्षसिद्ध है, अतएव व्यक्त का कारण व्यक्त नहीं ॥ अब इस का समाधान करते हैंः-

३६४-व्यक्ताद् घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः ॥ १३ ॥

उ०-व्यक्त से घट की उत्पत्ति का निषेध नहीं हो सकता ॥

हम यह नहीं कहते कि सर्वत्र व्यक्त ही व्यक्त का कारण है किन्तु हमारा कथन यह है कि जो व्यक्त कार्य उत्पन्न होता है वह "कारणगुण पूर्वक कार्य गुणोदृष्टः" इस कणाद सिद्धान्त के अनुसार वैसे ही कारण से उत्पन्न होता है । मृत्तिका जिस से घट बनता है, व्यक्त है, इस को कोई छिपा नहीं सकता ॥

इस के अनन्तर प्रतिवादियों के विचार दिखलाये जाते हैंः-

३६५-अभावाद्भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ॥ १४ ॥

पू०-अभावसे भाव की उत्पत्ति होती है (बीज का) नाश हुवे बिना (अङ्कुर की) उत्पत्ति न होने से ॥

जब तक बीज गल कर नष्ट नहीं होजाता तब तक उसमें से अङ्कुर नहीं निकलता इस से सिद्धहै कि अभावसे भावकी उत्पत्ति होतीहै ॥ अब इसका उत्तरदेते हैंः-

३६६-व्याघातादप्रयोगः ॥ १५ ॥

उ०--व्याघात होने से (उक्त कथन) अयुक्त है ॥

जो उपमर्दन करता है वह स्वयं उपमर्दित होकर प्रकट नहीं हो सक्ता क्यों कि पहिले ही विद्यमान है और जो प्रकट होता है वह उपमर्दक नहीं हो सकता, क्यों कि प्रकट होने के पूर्व वह विद्यमान ही नहीं ।। अब इस में पूर्व पक्षी दूषण देता हैः-

३६७-नातीतानागतयोः कारकशब्दप्रयोगात् ॥ १६ ॥

पू०--अतीत और अनागत में कारकशब्द का प्रयोग होनेसे (उक्त पक्ष ठीक) नहीं॥

अतीत और अनागत अर्थात् अविद्यमान में भी कारक शब्द का प्रयोग किया जाता है जैसे पुत्र उत्पन्न होगा, उत्पन्न होने वाले पुत्र का हर्ष करता है, घट था, टूटे हुवे घट का शोक करता है । इत्यादि बहुधा प्रयोग देखने में आते हैं । इसी प्रकार प्रकट होने वाला अङ्कुर उपमर्दन करता है इस लिये हमारे पक्ष में उक्त दोष नहीं आसकता ।। अब इस का उत्तर देते हैंः-

३६८-न, विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः ॥ १७ ॥

उ०-नष्ट (बीजादि) से (अङ्कुरादि की) उत्पत्तिन होनेसे (उक्त कथन) ठीकनहीं॥

नष्ट बीज से अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता, इसलिये अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ।। पुनः इसी की पुष्टि करते हैंः-

३६९-क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः ॥ १८ ॥

उ०-क्रम के निर्देश से निषेध नहीं हो सकता ॥

उपमर्द और प्रादुर्भाव का जो पौर्वापर्य नियमहै, वह क्रम कहलाताहै, अङ्कुरोत्पत्ति में वही हेतु है अर्थात् पहिले बीज जब गल जाता है तब उस से अङ्कुर उत्पन्न होता है, बीज गलने से नष्ट नहीं हो जाता किन्तु उस की रचना विशेष में कुछ परिणाम होकर अङ्कुरोत्पत्ति करने में समर्थ हो जाता है। यदि नष्ट बीज अङ्कुरोत्पत्ति करनेमें समर्थ होता तो जला हुआ या पिसा हुआ बीज भी अङ्कुरोत्पत्ति कर सकता, परन्तु ऐसा नहीं होता. इस से सिद्ध है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती और बीज के अवयवों से भिन्न अङ्कुर की उत्पत्ति में और कोई कारण नहीं, इसलिये बीज ही अङ्कुर का उपादान कारण है ॥ एक और प्रतिवादी कहता है:-

३७०-ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥ १९ ॥

पू०-पुरुष के कर्मों का वैफल्य देखने से ईश्वर कारण है ॥

पुरुष इच्छा करता हुवा उद्योग करता है, परन्तु अपनी इच्छानुसार फल नहीं पाता, इस से अनुमान होता है कि पुरुषार्थ का फल पराधीन है, जिस के अधीन है, वह ईश्वर है, इसलिये ईश्वर ही शरीरोत्पत्ति का भी कारण है ॥ दूसरा कहता है:-

३७१-न, पुरुषकर्माऽभावे फलाऽनिष्पत्तेः ॥ २० ॥

पुरुष के कर्म के अभाव में फल की निष्पत्ति न होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं॥

जो फल की निष्पत्ति ईश्वर के ही अधीन होती तो बिना पुरुषार्थ के भी कार्य्य सिद्धि हो जाती पर बिना उद्योग के कोई कार्य्य सिद्ध नहीं होता, इस लिये उक्त पक्ष ठीक नहीं ॥ अब सूत्रकार अपना मत कहते:-

३७२-तत्कारितत्वादहेतुः ॥ २१ ॥

ईश्वरकारित होने से (उक्त हेतु) अहेतु है ॥

कर्म के द्वारा जो पुरुष को फल मिलता है वह ईश्वरकारित है अर्थात् बिना ईश्वर की प्रेरणा वा योजना के कर्म जड़ होने से स्वयं फलनिष्पत्ति में असमर्थ है, इस से यह सिद्ध होता है कि बिना कर्म के न तो ईश्वर ही किसी को फल देता है क्यों कि वह नियामक और न्यायकारी है और न बिना ईश्वर के कर्म ही किसी को फल देने में समर्थ हो सकता है क्यों कि यह जड़ है और चेतन के अधीन है। जैसे बीज बिना कृषक के और कृषक बिना बीज के फलोत्पत्ति करने में असमर्थ हैं, ऐसे ही ईश्वर और कर्म ये दोनों फल निष्पत्ति में सापेक्ष हैं ॥ अब तीसरा कहता है:-

३७३-अनिमित्ततोभावोत्पत्तिःकण्टक तैक्ष्ण्यादिदर्शनात् ॥२२॥

पू०-अनिमित्त से भावों की उत्पत्ति होती है, कण्टकादि में तीक्ष्णता आदि के देखने से ॥

काँटे का तीखापन, पहाड़ी धातुओं की विचित्रता और पत्थरों का चिकनापन स्वभाव से ही बिना किसी निमित्त के दीख पड़ता है, इस से सिद्ध है कि बिना निमित्त के पदार्थों की उत्पत्ति हो जाती है ॥ आगे इस का खण्डन करते हैं:-

३७४-अनिमित्तनिमित्तत्वान्नाऽनिमित्ततः ॥ २३ ॥

पू०-अनिमित्त के निमित्त होने से अनिमित्त से (उत्पत्ति) नहीं होती ॥

जिस से जो उत्पन्न होता है वह उस का निमित्त कहलाता है, जब तुम्हारे कथनानुसार अनिमित्त से भाव की उत्पत्ति होती है तो वही उस का निमित्त हुआ, फिर अनिमित्तक उत्पत्ति कहां रही ? अब सूत्रकार अपना मत कहते हैं:-

३७५-निमित्ताऽनिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः ॥ २४ ॥

उ० निमित्त और अनिमित्त के भिन्न २ पदार्थ होने से निषेध नहीं हो सक्ता ॥

निमित्त और वस्तु है और अनिमित्त और । प्रत्याख्येय (खण्डनीय) और प्रत्याख्यान (खण्डन) एक नहीं होते । जैसे " अनुदकः कमण्डलुः " कहने से जल का निषेध समझा जाता है, न कि " अनुदकोनुदकः " जल, जल का निषेध होसकता है, सो यह पक्ष भी अकर्मनिमित्तक शरीरादि की उत्पत्ति से भिन्न नहीं है, अतएव उस के खण्डन से ही इस का खण्डन भी समझलेना चाहिये ॥ कोई ऐसा मानते हैं:-

३७६-सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥ २५ ॥

पू०-उत्पत्ति और नाश धर्म वाला होने से सब अनित्य है ॥

जो सदा न रहे उसे अनित्य कहतेहैं । भौतिक शरीरादि और अभौतिक बुद्ध्यादि में सब पदार्थ उत्पन्न होकर नष्ट होते हैं इस लिये अनित्य हैं ॥ इस पर दूषण देते हैं:

३७७-नाऽनित्यतानित्यत्वात् ॥ २६ ॥

पू०-अनित्यता के नित्य होने से (उक्त पक्ष) ठीक नहीं ॥

यदि सब की अनित्यता नित्य है तो उस की नित्यता से सब अनित्य नहीं हो सकते । और जो अनित्यहै तो उसके न होनेसे सब नित्यहै । इस पर आक्षेपकरतेहै ।

३७८-तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत् ॥ २७ ॥

पू०-जैसे अग्नि दाह्य का नाश करके आप भी विनष्ट हो जाता है वैसे ही उस की भी अनित्यता है ॥

उस अनित्यता की भी अनित्यता है, जैसे अग्नि दाह्य इन्धनादि का नाश करके आप भी नष्ट हो जाता है ऐसे ही अनित्यता सब का नाश करके आप भी नष्ट हो जायगी ॥ अब सूत्रकार अपना मत कहते हैं:-

३७९-नित्यस्याऽप्रत्याख्यानं यथोपलब्धिव्यवस्थानात् ॥२८॥

उ०-नित्य का खण्डन नही हो सकता यथोपलब्धि के व्यवस्थान से ।

जिस के उत्पत्ति और विनाश प्रमाण से सिद्ध हों, वह अनित्य और जिस के

उक्त दोनों प्रमाण से सिद्ध न हो सकें वह अनित्य है, परम सूक्ष्म भूत आकाश, काल दिशा, आत्मा, मन और इन के गुण, तथा कई एक और सामान्य विशेष समवाय इनके उत्पत्ति और विनाश प्रमाण से सिद्ध नहीं होते अतएव ये नित्य हैं ॥

एक और प्रतिवादी कहता हैः-

३८०-सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥ २९ ॥

पू०-सब नित्य है, पञ्चभूतों के नित्य होने से ॥

कारण रूप से पञ्चभूत नित्य हैं, इसलिये उन का कार्य भी सब नित्य है ॥

अब इस का उत्तर देते हैं-

३९१--नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ ३० ॥

उ०-उत्पत्ति और विनाशके कारणोंकी उपलब्धि होनेसे (उक्त पक्ष) ठीक नहीं॥

जैसे घट की उत्पत्ति और विनाश के कारण कपाल संयोग और मुद्गरपात आदि प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं, ऐसे ही सब पदार्थों के उत्पत्ति और विनाश के कारण प्रत्यक्ष देखने में आते हैं इसलिये सब पदार्थ नित्य नहीं हो सकते ॥

पुनः प्रतिवादी कहता हैः-

३८२--तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ॥ ३१ ॥

पू०-तल्लक्षण के अवरोध होने से निषेध नहीं हो सकता ॥

जिसके उत्पत्ति और विनाश के कारण पाये जाते हैं, उस में परमाणुओं का लक्षण नहीं घटता, क्योंकि परमाणुओं का नित्य होना सर्वसम्मत है, अतः भूतलक्षण का अवरोध होने से नित्यत्व का निषेध नहीं हो सकता है ॥

प्रतिवादी अपने कथन की फिर पुष्टि करता हैः-

३८३--नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ॥ ३२ ॥

उ०-उत्पत्ति और उस के कारण की उपलब्धि होने से (अनित्यत्व) नहीं हो सकता ॥

उत्पत्ति और विनाश के जो कारण प्रतीत होते हैं, वे औपाधिक हैं, वास्तविक नहीं । क्योंकि प्रत्येक पदार्थ नित्य होने से उत्पत्ति के पूर्व भी विद्यमान होता है और निवृत्ति के पश्चात् भी वर्त्तमान रहता है, यदि न रहता तो उत्पत्ति और विनाश भी न रहते, अतः उत्पत्ति और विनाश के कारणों के उपलब्ध होने से नित्यता का खण्डन नहीं होता । अब सूत्रकार अपना मत दिखलाते हैं ॥

३८४--न, व्यवस्थानुपपत्तेः ॥ ३३ ॥

उ०-व्यवस्था की उपपत्ति न होने से (उक्त पक्ष) ठीक नहीं ॥

उत्पत्ति से पूर्व उत्पन्न को और निवृत्ति से पश्चात् निवृत्तिको मानने पर " यह उत्पत्ति है और यह निवृत्ति है " यह व्यवस्था सिद्ध नहीं होती और " कब उत्पत्ति हुई और कब निवृत्ति होगी " यह काल की व्यवस्था भी नहीं बनती, इससे भूत और

भविष्यत् का लोप हो जायगा, केवल वर्त्तमान ही रहेगा। इसलिये अविद्यमानको रूप विशेष की प्राप्ति उत्पत्ति और स्वरूप हानि निवृत्ति है, ऐसा मानना ही इस व्यवस्थाको सुरक्षित रख सकता है. अतः उक्त पक्ष ठीक नहीं ॥ एक और प्रतिवादी कहता हैः-

३८५--सर्वं पृथग्भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥ ३४ ॥

पू०-भाव लक्षणों के पृथक् २ होने से सब (पदार्थ) पृथक् २ हैं ॥

संसार में भाव अनेक हैं, उन से लक्षित कोई पदार्थ भी एक नहीं हो सकता अर्थात् सब शब्द समुदाय के वाचक हैं। जैसे "कुम्भ" यह शब्द गन्ध, रस, रूप और स्पर्श इनके समुदाय तथा कपाल, घट, पार्श्व ग्रीवा आदि अनेक पदार्थोंका वाचक है, इस का वाच्य कोई एक अवयवी नहीं, ऐसे ही सब शब्दों को समझना चाहिये ॥

अब इसका उत्तर देते हैंः-

३८६--नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ॥ ३५ ॥

उ०-अनेक लक्षणों से एक भाव की निष्पत्ति होने से (उक्त पक्ष) ठीक नहीं।

गन्धादि गुणों से और ग्रीवादि अवयवें से सम्बद्ध एक भाव उत्पन्न होता है, इसलिये अनेक लक्षणोंसे एक भाव की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त द्रव्यसे गुण और अवयव से अवयवी सदा भिन्न२ होते हैं। पुनः इसी की पुष्टि करते हैंः-

३८७--लक्षणव्यवस्थानादेवाऽप्रतिषेधः ॥ ३६ ॥

उ० लक्षण की व्यवस्था से ही निषेध नहीं हो सकता ॥

भाव का लक्षण जो संज्ञा है, उसकी अवस्थिति एकमें देखी जाती है, "घट जल से पूर्ण है" यह व्यवहार मिट्टी के परमाणुओं में (जिस से घट बनता है) नहीं बन सकती। इस से सिद्ध है कि अनेक लक्षणों से एक भाव लक्षित होता है, यदि एक न मानोगे, तो फिर समुदाय भी न रहेगा क्योंकि एक से ही अनेक होते हैं ॥

एक और प्रतिवादी कहता हैः-

३८८--सर्वमभावोभावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥ ३७ ॥

पू०-भावें में परस्पर अभाव सिद्ध होने से सब अभाव है ॥

घट पट नहीं है और पट घट नहीं है, अश्व गैा नहीं है और गैा अश्व नहीं है। इत्यादि भावों में परस्पर अभाव देखा जाता है, इस से सब अभाव ही क्यों न मान लिया जाय ? अब इसका उत्तर देतेहैंः-

३८९--न, स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ॥ ३८ ॥

उ० भावें के स्वभावसिद्ध होने से (उक्त पक्ष) ठीक नहीं ॥

सम्पूर्ण भाव (पदार्थ) अपने २ भावसे वर्त्तमान हैं, यदि घटमें पटका अभाव है तो अपना (घट) का तो भाव विद्यमान है, इसी प्रकार, यदि अश्व जाति से गैा

जाति का ग्रहण नहीं होता तो अश्व जाति का तो होता है। बस सब पदार्थों के अपने २ भाव में वर्त्तमान होने से अभाव किसी का नहीं हो सकता ॥

पुनः प्रतिवादी शङ्का करता है:-

३९० - न, स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ॥ ३९ ॥

पू०-स्वभावसिद्धि के आपेक्षिक होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

सब पदार्थों के स्वभाव सापेक्ष हैं, ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ और दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व कहाता है। बिना अपेक्षा दूसरे की कोई पदार्थ भी अपने स्वरूप से अवस्थित नहीं है अतएव आपेक्षिक होने से भावों की स्वभावसिद्धि नहीं हो सकती ॥

अब इस का समाधान करते हैं:--

३९१ - व्याहतत्वादयुक्तम् ॥ ४० ॥

उ० -परस्पर व्याघात होने से (उक्त कथन) युक्त नहीं ॥

यदि ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ है तो दीर्घ किसकी अपेक्षा से है ? यदि कहो कि ह्रस्व की अपेक्षा से। तो इस में अन्योन्याश्रय दोष आवेगा, जिस से अनवस्था उत्पन्न होगी, इस लिये सारे भाव आपेक्षिक नहीं हो सकते ॥

अब संख्यावादियों के मत को दिखलाते हैं, कोई एक ही पदार्थ को "सत्" रूप से मानते हैं, कोई नित्य और अनित्य भेद से दो पदार्थों को मानते हैं। कोई ज्ञाताऽज्ञात और ज्ञेय भेदों से तीन प्रकार का जगत् मानते हैं और कोई प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति भेदों से चार प्रकार के पदार्थों को मानते हैं इत्यादि।

अब इन की परीक्षा की जाती है:-

३९२ संख्यैकान्ताऽसिद्धिःकारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ ४१ ॥

उ०-कारणकी अनुपपत्ति और उपपत्तिहोनेसे संख्यैकान्त (वाद)की असिद्धिहै॥

यदि साध्य और साधन भिन्न २ हैं तो भेद रूप कारण की उपपत्ति से उन का एकान्त सिद्ध नहीं होता और यदि इस में अभेदहै तो साधन की अनुपपत्ति से साध्य की सिद्धि हो नहीं सकती। दोनों हेतुओं से संख्यावाद असिद्ध है ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:-

३९३ - न, कारणावयवभावात् ॥ ४२ ॥

पू०--कारण के अवयव के होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

कारणों के अनेक अवयव हैं, उन में से कोई साधन हो जायगा, जिससे संख्यावाद की सिद्धि हो जायगी ॥ अब इस का खण्डन करते हैं:--

३९४ - निरवयवत्वादहेतुः ॥ ४३ ॥

उ०--कारण के निरवयव होने से (उक्त हेतु) अहेतु है ॥

अवयव कार्य्य के होते हैं, कारण निरवयव होताहै, इसलिये उक्त हेतु ठीक नहीं। दूसरे जब निरवयवत्व होने से सब एक है, ऐसी प्रतिवादी ने प्रतिज्ञा की थी तो अब उसके विरुद्ध अवयव की कल्पना अपनी प्रतिज्ञा हानि है ॥

प्रेत्यभाव की परीक्षा हो चुकी अब फल की परीक्षा की जाती है। पहिले सन्देह करते हैं:-

३९५ - सद्यःकालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः ॥ ४४ ॥

पू०-तत्काल और कालान्तर में फल की प्राप्ति होने से संशय होता है॥

पकाता है, दुहता है, इन क्रियाओं का फल भात और दूध तत्काल देखने में आता है। जोतता है, बोता है, इन क्रियाओं का फल अन्न कालान्तर में देखा जाता है। स्वर्ग की इच्छा से होम करना यह भी एक प्रकार की क्रिया है. इस के फल में सन्देह है॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

३९६ - न, सद्यः कालान्तरोपभोग्यत्वात् ॥ ४५ ॥

उ०-कालान्तर में भोग्य होने से तत्काल फल नहीं होता॥

जैसे वपन आदि क्रियाओं का फल तत्काल नहीं होता, किन्तु कालान्तर में होता है, पर उस में किसी को सन्देह नहीं होता। ऐसे ही यजन आदि क्रियाओं का फल भी कालान्तर में भोग्य होने से संशयास्पद नहीं॥ पुनः शङ्का करते हैं:-

३९७ - कालान्तरेणाऽनिष्पत्तिर्हेतुविनाशात् ॥ ४६ ॥

पू०-हेतु के नाश होने से कालान्तर में (फल) सिद्धि नहीं हो सकती॥

क्रिया जब नष्ट हो गई तब कारण के बिना उसका फल उत्पन्न नहीं हो सकता, क्यों कि नष्ट कारण से कुछ उत्पन्न नहीं होता॥ अब इस का समाधान करते हैं:-

३९८ - प्राङ्निष्पत्तेर्वृक्षफलवत्तत्स्यात् ॥ ४७ ॥

उ०-वृक्षफल के समान उत्पत्ति से पूर्व वह होगा॥

जैसे फलार्थी वृक्ष की जड़ में सिञ्चन आदि क्रिया करता है, उस क्रिया के नष्ट होने पर मिट्टी जल से मिल कर भीतर की उष्णता से पकाई हुई रस को उत्पन्न करती है, वह रस वृक्षानुगत हो कर रूपान्तर को प्राप्त हुआ पत्रादि फलों को उत्पन्न करता है। ऐसे ही प्रत्येक प्रवृत्ति (क्रिया) से धर्माऽधर्मलक्षण रूप संस्कार उत्पन्न होते हैं, फिर वे अन्य निमित्तों से अनुग्रहीत हुवे कालान्तर में फल को उत्पन्न करते हैं॥ पुन; शङ्का करते हैं:-

३९९ - नासन्न सन्न सदसत्सदसतोर्वैधर्म्यात् ॥ ४८ ॥

पू०-सत् और असत् के वैधर्म्य होनेसे न असत्है न सत्हैं औरन सदऽसत्है॥

उत्पत्ति से पूर्व उत्पन्न होने वाले का अभाव नहीं, यदि अभाव होता तो फिर उस से उत्पत्ति कैसी? भाव भी नहीं हो सकता क्यों कि यदि उत्पत्ति से पूर्व उत्पन्न होने वाला विद्यमान होता तो फिर उस की उत्पत्ति कैसी? सदसत् भी नहीं हो सकता क्यों कि सत् और असत् का परस्पर विरोध है अर्थात् भाव कभी अभाव नहीं और अभाव कभी भाव नहीं हो सकता॥ अब समाधान करते हैं:-

४०० प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिधर्मकमसदित्यद्धोत्पादव्ययदर्शनात् ।४९।

उ०-उत्पत्ति के पूर्व उत्पत्तिधर्मक असत्, यह सिद्धान्त है क्योंकि उत्पत्ति और विनाश देखने में आते हैं ॥

पहिले जो कहा था कि उपादानरूप से उत्पन्न होने के पूर्व कार्य सत् है। अब इसका उत्तर देते हैं:-

४०१ - बुद्धिसिद्धन्तु तदसत् ॥ ५० ॥

उ०-जो बुद्धिसिद्ध है वह असत् है ॥

अमुक उपादान अमुक कार्य की उत्पत्ति में समर्थ है, यह बुद्धि (अनुमान) से सिद्ध है, तन्तुओं से पट की निष्पत्ति को जानता हुवा तन्तुवाय पट बनाने में प्रवृत्त होता है, बालू से नहीं। इस से सिद्ध है कि उत्पत्ति से पूर्व उपादान कारण तौ नियत होता है, परन्तु कार्य को भी यदि सत् मान लिया जाय तौ फिर उत्पत्ति ही कैसी? इसलिये बुद्धि से सिद्ध होने वाला कार्य उत्पत्ति से पूर्व असत् है ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:-

४०२-आश्रयव्यतिरेकाद् वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः ॥ ५१ ॥

पू०-आश्रय के भेद होने से वृक्षफलोत्पत्ति का दृष्टान्त हेतु नहीं होसकता ॥

जिस शरीर ने कर्म किया है, उसके नाश होजाने पर फल की प्राप्ति किस को होगी? इस में वृक्ष का दृष्टान्त ठीक नहीं क्योंकि वृक्ष का सींचना और उसमें फल का आना, ये दोनों बातें उसी वृक्ष के आश्रित हैं, पर दार्ष्टान्त में जिस शरीर से कर्म किया है, उस से भिन्न शरीर में फल की प्राप्ति बतलाई गई है। इस लिये आश्रय भेद होने से यह दृष्टान्त ठीक नहीं। अब इसका समाधान करते हैः-

४०३ प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः॥ ५२ ॥

उ०-इच्छा के आत्माश्रित होने से निषेध नहीं हो सकता ॥

इच्छा आत्मा का गुण है और उसी से कर्म (जो धर्माधर्मरूपसे दो प्रकार का है) सम्बन्ध रखता है, शरीर तो केवल उसका अधिष्ठान मात्र है इस लिये कर्म और उस का फल ये दोनों आत्माके ही आश्रित हैं और आत्मा (पूर्वाऽपर) दोनों शरीरों में एक ही रहता है, अतः निषेध अयुक्त है ॥ पुनः शङ्का करते हैं:-

४०४ न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिफलनिर्देशात् ॥ ५३ ॥

पू०-पुत्र, पशु, स्त्री परिच्छद, सुवर्ण और अन्नादि का फलों में निर्देश होने से (उक्त कथन) युक्त नहीं ॥

" पुत्रकामोयजेत " इत्यादि वाक्यों में पुत्रादि का फलत्वेन निर्देश किया गया है, इच्छा को फल कहना ठीक नहीं ॥ अब इसका उत्तर देते हैं:-

४०५ तत्सम्बन्धात्फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचारः ॥ ५४ ॥

उ०-इच्छा के सम्बन्ध से फल की निष्पत्ति होनेके कारण उनमें फल के समान उपचार माना गया है ॥

इच्छा के सम्बन्ध से फल की उत्पत्ति होती है, इस लिये पुत्रादि में फल का उपचार माना गया है। जैसे "अन्नं वै प्राणाः" यहां पर अन्न में प्राणत्व का आरोप किया गया है। इस लिये कि अन्न से प्राणों की पुष्टि होती है ॥

फल की परीक्षा समाप्त हुई, अब क्रमप्राप्त दुःख की परीक्षा की जाती है:-

४०६ - विविधबाधनायोगाद्दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः ॥ ५५ ॥

उ०-अनेक प्रकार के दुःख सम्बन्ध से जन्मोत्पत्ति दुःखरूप ही है ॥

दुःख का लक्षण बाधना कह चुके हैं, बाधना यद्यपि अनेक प्रकार की है तथापि तीन भेदों में उस का समावेश किया गया है। १-हीना, २-मध्यमा, ३-उत्कृष्टा। देवताओं से लेकर नारकी जीवों तक की उत्पत्ति उक्त बाधना से युक्त है। इस प्रकार समस्त संसार को दुःख युक्त जान कर जो उस से निर्विण्ण होता है, वह दुःख बहुल सुखाभास में अनुरक्त नहीं होता। राग के अभाव से दुःख की हानि होती है ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं-

४०७ - न, सुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः ॥ ५६ ॥

पू०-(दुःख के) बीच में सुख की निष्पत्ति होने से उक्त कथन ठीक नहीं ॥

दुःख में ही सुख भी मिला हुवा है, इस का प्रमाण यह है कि दुःख भोगने के उपरान्त सुख की प्राप्ति होती है। अब संसार में जहां दुःख है, वहाँ सुख भी है। अतः सब को दुःखरूप बताना ठीक नहीं ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

४०८ बाधनाऽनिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादऽप्रतिषेधः ॥ ५७ ॥

उ०-दुःखकी निवृत्ति न होनेसे तथा प्रार्थीके पर्येषण दोषसे निषेध नहीं होसक्ता।

सुख साधनोंमें प्रवृत्त हुआ सुखार्थी मनुष्य जब कोई कामना करता है, यदि वह कामना पूरी न हुई या पूरी होकर फिर बिगड़ गई या कम पूरी हुई या जैसी चाहता है वैसी न हुई, इस पर्येषण दोष से अनेक प्रकार का मानससन्ताप उत्पन्न होता है, जो कि सुखार्थी और सुख के लिये यतमान पुरुष को भी कभी दुःख से मुक्त नहीं होने देता। इस के अतिरिक्त जब एक कामना मनुष्य की पूरी हो जाती है तब दूसरी और उत्पन्न हो जाती है, यदि साम्राज्य भी किसी को मिल जाय तो भी उस की तृप्ति नहीं होती, अतः विवेकी पुरुषों के लिये संसार दुःखरूप ही है ॥

पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:—

४०९ - दुःखविकल्पेसुखाऽभिमानाच्च ॥ ५८ ॥

उ०-दुःखके विकल्पमें सुखका अभिमान होनेसे भी (शरीरादिकी उत्पत्ति दुःखरूपही है)

यह जीव सांसारिक सुख को अनुभव करता हुवा उस ही को परम पुरुषार्थ मानता है और उस की प्राप्ति से अपने को कृतार्थ जानता है। मिथ्या सङ्कल्प से सुखाभास को सुख समझ कर उस के साधन विषयादि में अनुरक्त होता है, जिस से

जन्म, मरण, जरा, व्याधि, इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग आदि अनेक प्रकार का दुःख उत्पन्न होता है, परन्तु यह राग में अनुबद्ध हुवा उस को बार २ अनुभव करता हुवा भी भूल जाता है और उस अल्प सुख से, जो इस महादुःख से मिश्रितहै, उन्मत्त हो जाता है, इस से सिद्ध है कि अविवेकी पुरुष ही इस दुःखमय संसार को सुखमय जानताहै, तत्त्वदर्शीपुरुषतो इस सुखाभास कोदुःखमयही जानकर इसमेंलिप्त नहींहोता॥

दुःख की परीक्षा समाप्त हुई अब क्रमप्राप्त अपवर्ग की परीक्षा की जाता है ॥

प्रथम प्रतिवादी शङ्का करता हैः-

४१० - ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाऽभावः ॥ ५९ ॥

पू०-ऋण, क्लेश और प्रवृत्ति के अनुबन्ध से अपवर्ग का अभाव है ॥

" जायमानोह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते " ब्राह्मण उत्पन्न होने के साथ ही तीन ऋणों से ऋणवान् होता है। वे तीन ऋण ये हैंः— ऋषिऋण, देवऋण, पितृऋण, ब्रह्मचर्य से ऋषिऋण, यज्ञ से देवऋण और प्रजोत्पत्ति से पितृऋण चुकाया जाता है यह शास्त्र की मर्यादा है। इस के अनुसार ऋणों के चुकाने में ही मनुष्य का सारा जीवन समाप्त हो जाता है फिर मोक्ष के लिये समय कहाँ रहा ? और विना ऋण चुकाये मोक्ष साधन शास्त्र विरुद्ध है। यथाह मनुः-- " ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानोव्रजत्यधः तीनों ऋणों को चुका कर मोक्ष में मन लगावे. बिना ऋण चुकाये मोक्ष साधन में प्रवृत्त होने वाला अधोगति को प्राप्त होता है । क्लेशों के अनुबन्ध से भी मोक्ष का अभाव है क्योंकि प्राणी यावज्जीवन क्लेशों में बंधा हुवा करता है और फिर मरणानन्तर भी क्लेशानुबद्ध ही जन्म लेता है, जब किसी समय भी क्लेश के अनुबन्ध का विच्छेद नहीं होता, तब मोक्ष के लिये समय कहाँ रहा ? प्रवृत्ति के अनुबन्ध से भी मोक्ष का अभाव सिद्ध होता है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी यावज्जीवन वाणी, बुद्धि और शरीर से कर्मों को करता हुवा धर्माऽधर्म का उपार्जन करता है, फिर मोक्ष के लिये समय कहां ? अब इस का उत्तर देते हैंः-

४११ प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादो निन्दाप्रशंसोपपत्तेः ॥ ६० ॥

उ०प्रधान शब्द की उत्पत्ति न होने से तथा निन्दा और प्रशंसा की उपपत्ति होने से गुण शब्द से अनुवाद किया गया है ॥

" जायमानोह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते " इस वाक्य में " ऋण " शब्द प्रधान परक नहीं है, क्योंकि जहाँ पर देय दिया जाता और आदेय लिया जाता है वहीं पर ऋण शब्द की प्रधान वाक्यता है, प्रधान वाक्य की योग्यता न होने से यहां पर केवल गौण शब्द से अनुवाद किया गया है। जैसे माणवक के लिये अग्नि शब्द का प्रयोग किया जाता है। वैसे ही ब्रह्मचर्यादि के लिये यहां ऋण शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् ऋण के तुल्य। यदि कहो कि गौड़ शब्द का प्रयोग क्यों किया गया ? तो इस का उत्तर यह है कि निन्दा और स्तुति के लिये, जैसे ऋणी ऋण के न देने से निन्दित होता है वैसे ही द्विज कर्म के लोप

होने से निन्दनीय होता है और जैसे ऋणी ऋण के देने से मुक्तभार होकर प्रशंसा पाता है वैसे ही द्विज कर्म के अनुष्ठान से कृतकृत्य होकर प्रशंसास्पद होता है तथा उक्त वाक्य में "जायमान" शब्द भी गौण है क्योंकि उससे प्रसवकाल का ग्रहण नहीं होता, किन्तु गृहस्थ के आरम्भ का समय लिया जाता है माता के गर्भ से उत्पन्न होते ही कोई बालक कर्म करने में समर्थ नहीं हो जाता, किन्तु जब गृहस्थ में प्रविष्ट होता है तभी अधिकार और सामर्थ्य उस को प्राप्त होता है। जैसे अन्धों को नृत्य दिखाना और बधिरों को गान सुनाना निरर्थक है, ऐसे ही जातमात्र बालक को ब्रह्मचर्य और यज्ञादि का उपदेश करना निष्फल है, अतएव उक्त वाक्य के अर्थवादपरक होने से मोक्ष का विलोप नहीं होता॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

४१२-अधिकाराच्च विधानं विद्यान्तरवत्॥ ६१॥

उ०-अन्य विद्याओं की भांति अधिकार से विधान होता है॥

सब शास्त्र अपने२ विधेय के विधायकहैं, इसलिये उनका तात्पर्य केवल अपने२ प्रतिपाद्य के प्रतिपादन से है, न कि अन्य शास्त्र प्रतिपादित विषय के खण्डन से। गृहस्थ शास्त्र अपने कर्त्तव्यों का विधान करता हुवा दूसरे आश्रमों के अधिकार में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। ऋचा और ब्राह्मण मोक्ष का विधान करते हैं, तथा ऋचा-"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' इत्यादि यजुर्वेद ३१। १८ तथा "कर्मभिर्मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमिच्छमानाः। अथाऽपरे ऋषयोमनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः। न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः (वात्स्यायन भाष्योद्धृत) इत्यादि अनेक ऋचा हैं, इन का सारांश यह है कि धन और सन्तान आदि कामना रखने वाले ऋषि तत्तत्कर्म का सेवन करते हुवे मृत्यु को प्राप्त होते हैं, दूसरे विचारवान् ऋषि इन के त्याग से मोक्ष के भागी होते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण भी मोक्ष का प्रतिपादन करते हैं, यथा-"अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामोभवति तथाक्रतुर्भवति तथा तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते। कामयमानोयोऽकामो निष्काम आत्मकामोभवति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति"। इन सब का सारांश यही है कि कर्त्ता जिस कामना से कर्म करता है उस को प्राप्त होता है और निष्काम कर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतएव ऋणादि मोक्ष के बाधक नहीं हो सकते॥

पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

४१३ - समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः॥ ६२॥

उ०-आत्मा में (अग्नि के) समारोपण करने से निषेध नहीं हो सकता॥

"प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत्" इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों में आहवनीयादि तीनों अग्नियों का आत्मा में आरोपणपूर्वक संन्यासाश्रम का विधान पाया जाता है और सम्पूर्ण धर्मशास्त्र चारों आश्रमों का विधान करते हैं इस लिये मोक्ष का प्रतिषेध नहीं हो सकता॥

अब क्लेशानुबन्ध का निवारण करते हैं:-

४१४ - सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशभावादपवर्गः ॥ ६३ ॥

उ०-सोये हुवे को स्वप्न के न दीखने की दशा में क्लेश का अभाव होने से अपवर्ग की सिद्धि है ॥

जैसे गाढ़ निन्द्रा में सोये हुवे पुरुष को रागानुबन्ध के टूट जाने से सुख दुःख का अनुभव नहीं होता, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष को रागादि के अभाव से मोक्ष में भी सुख दुःखका सम्बन्ध नहीं रहता, अतएव क्लेशानुबन्धभी मोक्षका बाधक नहीं होसकता ॥

अब प्रवृत्ति के अनुबन्ध का निवारण करते हैं:-

४१५ - न,प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीन क्लेशस्य ॥ ६४ ॥

उ०-हीनक्लेश की प्रवृत्ति बन्धन के लिये नहीं होती ॥

क्लेश का कारण रागादि दोष हैं वे जिस के निवृत्त होगये, ऐसे वीतराग पुरुष की प्रवृत्तिबन्धन के लिये नहीं होती क्योंकि जो कर्म सकाम किये जाते हैं वे ही बन्धन के कारण होते हैं, निष्काम नहीं ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:-

४१६ - न, क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् ॥ ६५ ॥

पू०क्लेशसन्ततिके स्वाभाविक होने से क्लेशानुबन्ध का विच्छेद नहीं हो सकता.

रागादि की परम्परा अनादि है, उस का कभी विच्छेद नहीं होसकता, अतएव क्लेशानुबन्ध अनिवार्य्य है ॥ अब इसका समाधान करते हैं:-

४१७ - प्रागुत्पत्तेरभावाऽनित्यत्वस्वाभाविकेऽप्यनित्यत्वम् ॥ ६६ ॥

उ०--उत्पत्ति के पूर्व अभाव की अनित्यता के समान स्वभाविक में भी अनित्यता होती है ॥

जैसे उत्पत्ति के पूर्व अनादि प्रागऽभाव उत्पन्नभाव से निवृत्त हो जाता है ऐसे ही स्वाभाविक क्लेशसन्तति भी अनित्य है ॥ इस पर दूसरा कहता है:—

४१८ - अणुश्यामताऽनित्यत्ववद्वा ॥ ६७ ॥

अथवा अणुओं की श्यामता की अनित्यता के समान (क्लेशसन्तति अनित्य है)॥

जैसे परमाणुओं की स्वाभाविक श्यामता अग्निसंयोग से नष्ट होजाती है, ऐसे ही स्वाभाविक क्लेशसन्तति भी अनित्य होजायगी ॥ उक्त दोनों हेतुओं को पर्याप्त न मानते हुवे सूत्रकार दूसरा समाधान करते हैं: –

४१९ न, सङ्कल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् ॥ ६८ ॥

उ०—रागादि के सङ्कल्प निमित्तक होने से (उक्त कथन) युक्त नहीं ॥

सङ्कल्प से रागादि की उत्पत्ति होती है, तत्त्वज्ञान के होने पर सारे सङ्कल्प और विकल्प निवृत्ति होजाते हैं, जब सङ्कल्परूप कारण ही न रहा, तब रागादि उसके कार्य्य क्यों कर रह सकते हैं, बस जब रागादि निवृत्त होगये, तब क्लेशानुबन्ध के विच्छेद में सन्देह ही क्या रहा ?

॥ इति न्यायदर्शने चतुर्थाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ॥

अथ द्वितीयमाह्निकम्

अपवर्ग की परीक्षा समाप्त हुई, अब इस दूसरे आह्निकमें तत्त्वज्ञान की परीक्षा प्रारम्भ की जाती है। प्रथम तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति का क्रम दिखलाया जाता है:—

४२० - दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः ॥ १ ॥

उ-दोषनिमित्तों के तत्त्वज्ञान से अहङ्कार की निवृत्ति होती है ॥

रागादि दोषों के निमित्त शरीरादि हैं, उनका तत्त्व जान लेने से अहङ्कार की निवृत्ति होती है, क्योंकि शरीरादि में आत्मबुद्धि रखता हुवा ही प्राणी रञ्जनीय विषयोंमें अनुराग करताहै तथा कोपनीय विषयोंमें क्रोध करताहै। जब वह यह जान लेता है कि शरीरादि से आत्मा पृथक् है तब मोह के अभाव में राग द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते ॥ अब विषयों का निरूपण करते हैं:—

४२१ - दोषनिमित्तं रूपादयोविषयाः सङ्कल्पकृताः ॥ २ ॥

दोष के निमित्त रूपादि विशय सङ्कल्पकृत हैं ॥

विषय दो प्रकार के हैं, एक बाह्य दूसरे अध्यात्म। ये दोनों सङ्कल्प से उत्पन्न होते हैं। मुमुक्षु को चाहिये कि पहिले रूपादि बाह्य विषयों से (जो रागादि दोषों के निमित्त हैं) उपरत हो, तत्पश्चात् अध्यात्म=शरीरादि के अहङ्कार को दूर करे। इस प्रकार जो बाहर और भीतर दोनोंसे विरक्त होकर विचरता है, वह संसार में रहता हुआ और देहादि को रखता हुवा भी मुक्त कहाता है ॥ आगे रागादि की निवृत्ति का उपाय दिखलाते हैं:—

४२२ - तन्निमित्तं त्ववयव्यभिमानः ॥ ३ ॥

उन दोषों का निमित्त तौ अवयवी का अभिमान है ॥

अवयवी (स्त्री आदि के शरीर) में जो अभिमान (ममत्व बुद्धि) का होता है वही रागादि दोषों का निमित्त है, अतएव मुमुक्षु को उचित है कि वह इस चर्मम मांसपिण्ड को विषसम्पृक्त अन्नवत् समझे। अब अवयवी में सन्देह करते हैं:-

४२३ - विद्याऽविद्याद्वैविध्यात्संशयः ॥ ४ ॥

पू०-विद्या और अविद्या के द्वैविध्य से सन्देह होता है ॥

सदसत् (दृष्टादृष्ट) दोनों की उपलब्धि और अनुपलब्धि होने से विद्या और अविद्या दो प्रकार की हैं। विद्या से जहां सत् की उपलब्धि होती है, वहां असत् की भी, ऐसेही अविद्या से जहां असत् की अनुपलब्धि होती है, वहां सत् की भी। बस इस विद्या और अविद्या के द्वैविध्य से अवयवी में संशय होता है ॥

अब इसका समाधान करते हैं:-

४२४ - तदऽसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ॥ ५ ॥

उ०-पूर्वहेतु प्रसिद्ध होने से उसमें संशय नहीं हैं ॥

द्वितीयाऽध्याय में हेतुओं से अवयवी की सिद्धि कर चुके हैं, उन का जब तक खण्डन न हो, तब तक संशय अनुपपन्न है ।। द्वितीय पक्ष में भीः-

४२५ - वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि न संशयः ॥ ६ ॥

उ०-वृत्ति की अनुपपत्ति से भी संशय नहीं हो सकता ॥

यदि अवयवी का अभाव मान लिया जावे तौ भी उन में संशय नहीं हो सकता क्योंकि जो वस्तु है उसीमें सन्देह होता है और जो वस्तु ही नहीं उसमें सन्देह कैसा ?

अब यहां से चार सूत्रों में पूर्वपक्षी अवयवी का अभाव प्रतिपादन करता है:-

४२६ - कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ॥ ७ ॥

पूः-सम्पूर्ण अवयवों के एकदेशवर्त्ती होने से अवयवी का अभाव है ॥

एक २ अवयव सारे अवयवों में नहीं रह सकता क्योंकि उनके परिमाण में भेद है, अतएव अवयवों से भिन्न कोई अवयवी नहीं है ॥

४२७ - तेषु चावृत्तेरवयव्यभावः ॥ ८ ॥

उन (अवयवों) में अवृत्ति होने से भी अवयवी का अभाव है ॥

परिणाम में भेद होने से अवयवी प्रत्येक अवयव में नहीं रह सकता और यदि एक देश में उस की स्थिति मानी जावे तौ वहां अन्य अवयवों के अभाव से अवयवी नहीं रह सकता, इसलिये अवयवी के होने में सन्देह है ॥

४२८ - पृथक् चावयवेभ्योऽवृत्तेः ॥ ९ ॥

अवयवों से पृथक् वर्त्तमान न होने से भी (अवयवी कोई नहीं) ॥

अवयवों से पृथक् और कोई अवयवी सिद्ध नहीं होता ॥

४२९ - न चावयव्यवयवाः ॥ १० ॥

और अवयव अवयवी हो नहीं सकते ॥

यदि अवयवोंको ही अवयवी माना जावे तौ यह हो नहीं सकता, क्योंकि तन्तु को वस्त्र और स्तम्भ को गृह कोई नहीं मान सकता ॥

अब सूत्रकार अपना सिद्धान्त कहते हैं ॥

४३० - एकस्मिन् भेदाभावाद्भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः ॥११॥

उ०-एक में भेद का अभाव होने के कारण भेद शब्द के प्रयोग की अनुपपत्ति होने से उक्त प्रश्न नहीं हो सकता ।

पूर्वपक्षी ने जो यह प्रश्न किया था कि अवयवी सम्पूर्ण अवयवों में रहता है अथवा एक देश में ? यह प्रश्न ही अयुक्त है, क्योंकि एकमें भेद न होने से भेद शब्दका प्रयोग ही नहीं हो सकता । अनेकों के संघात को कृत्स्न कहते हैं और अनेकत्व के होते हुवे एक, एक देश कहलाता है, सो ये दोनों कृत्स्न और एक देश भेदबोधक हैं, एक अवयवी में इन की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

४३१ - अवयवान्तराऽभावेप्यवृत्तेरहेतुः ॥ १२ ॥

उ०-अवयवान्तर के अभाव में भी वृत्ति के न होने से (उक्त हेतु) अहेतु है ॥

"अवयवी अपने अवयवों में एक देश से नहीं वर्त्तता, अवयवान्तर के अभाव से"। यह जो प्रतिपक्षी ने हेतु दिया था, अयुक्त है, क्यों कि अवयवान्तर के अभाव में अवयवी की वृत्ति का भी अभाव होगा। अवयव और अवयवी में जो अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है वह तभी रह सकता है जब कि अवयवी अपनी वृत्तियों से सम्पूर्ण अवयवों में वर्त्तमान हो ॥ अब इस पर प्रतिपक्षी दूषण देता है:-

४३२ - केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥ १३ ॥

पू०-केशसमूह में तैमिरिक (अन्धकाराच्छन्न) की उपलब्धि के समान उसकी उपलब्धि हो जावेगी ॥

जैसे तिमिरावृत नेत्रसे एक बाल नहीं दीख सकता, वैसेही एक अणु (अवयव) के न दीखने पर भी अणुसमूह घटादि (अवयवी) का ज्ञान होना सम्भव है। अतः अवयवों का समूह ही अवयवी है, उस से भिन्न अवयवी और कोई वस्तु नहीं ॥

अब इस का उत्तर देते हैं:-

४३३ - स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद् विषयग्रहणस्य तथाऽभावोनाऽविषये प्रवृत्तिः ॥१४॥

उ०-अपनेर विषय के अनतिक्रमण से इन्द्रियों के तीव्र और मन्द होनेके कारण तदनुसार विषय ग्रहण होता है, अन्य विषय में प्रवृत्ति नहीं होती ॥

इन्द्रिय अपने २ विषय का अतिक्रमण नहीं कर सकते। नेत्र चाहे कैसे ही तीव्र क्यों न हों, परन्तु शब्द को ग्रहण नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि अपने से अन्य विषय में किसी इन्द्रिय की प्रवृति नहीं हो सकती। परमाणु अतीन्द्रिय हैं, इस लिये किसी इन्द्रिय से उन का ग्रहण नहीं हो सकता। जब एक परमाणु अतीन्द्रिय है तो उन का समूह भी इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सकता, अतएव द्रव्यान्तर की सिद्धि होती है, जिस का इन्द्रिय से ग्रहण होता है। अब इस पर आक्षेप करते हैं:-

४३४ - अवयवाऽवयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात् ॥ १५ ॥

पू० इस प्रकार प्रलय तक अवयव और अवयवी का प्रसङ्ग (होगा) ॥

यदि अवयवों में अवयवी की वृत्ति के निषेध से अवयवी का अभाव सिद्ध हो तो फिर सब का लय प्रसक्त होगा, अथवा निरवयव होने से परमाणुत्व की निवृत्ति हो जायगी, दोनों दशाओं में उपलब्धि का अभाव होगा ॥

अब इस का समाधान करते हैं:-

४३५ - न, प्रलयोऽणुसद्भावात् ॥ १६ ॥

उ०-परमाणुओं के सद्भाव से नाश न होगा ॥

अवयवों के विभाग का आश्रय लेकर वृत्ति के निषेध से जो अभाव की कल्पना की गई है, वह परमाणों के निरवयव होने से निवृत्त हो जायगी। परमाणु उसी को कहते हैं कि जिस का विभाग न हो सके, बस जिस का विभाग ही नहीं हो सकता

उसका नाश कैसा ? क्योंकि विभाग ही को नाश कहते हैं ॥

अब परमाणु का लक्षण कहते हैं:-

४३६ - परं वा त्रुटेः ॥ १७ ॥

त्रुटि से (जो) सूक्ष्म है ।

त्रुटि (नाश) से जो अतिरिक्त है अथवा त्रुटि में भी जो अवस्थित रहता है, उसको परमाणु कहते हैं " वा " निपात यहां अवधारण और विकल्प दोनों में है ।

अब शून्यवादी परमाणु के निरवयत्व पर आक्षेप करता है:-

४३७ - आकाशव्यतिभेदात्तदनुपपत्तिः ॥ १८ ॥

पू०-आकाश के व्यतिभेद से उस (निरवयवत्व) की उपपत्ति नहीं है ॥

परमाणु के भीतर और बाहर आकाश व्यापक है, व्याप्य होने से वह सावयव है अतः अनित्य है ॥ अथवा—

४३८ - आकाशाऽसर्वगतत्वं वा ॥ १९ ॥

पू०-वा आकाश सर्वगत नहीं है ॥

यदि परमाणु में आकाश का व्यापक होना नहीं मानोगे तो फिर आकाश सर्वदेशी न रहेगा ॥ अब इसका समाधान करते हैं:-

४३९ - अन्तर्बहिश्च कार्यद्रव्यस्य कारणान्तरवचनादकार्ये तदऽभावः ॥ २० ॥

उ०-भीतर और बाहर कार्यद्रव्य के कारणान्तर वचन से कार्य में उसका अभाव है ॥

भीतर और बाहर यह व्यवहार कार्य द्रव्य में (जब कि वह कारण की दशा में नहीं है) होसकता है, कारणरूप सूक्ष्म परमाणुओं में यह व्यवहार नहीं बन सकता, क्योंकि जिसका विभाग न हो सके वा जिस से कोई अणु नहो, वह परमाणु है ।

पुनः उसी की पुष्टि करते हैं:--

४४० - सर्वसंयोगशब्दविभवाच्च सर्वगतम् ॥ २१ ॥

सर्वत्र संयोग और शब्द के होने से (आकाश) सर्वगत है ॥

संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिस में आकाश नहो, अत्यन्त घन पाषाण और धातुओं में भी आकाश विद्यमान है, यदि आकाश नहोता तो उन में छिद्र रूप अवकाश नहो सकता, अतएव आकाश सर्वदेशी है ॥

आकाश के लक्षण कहते हैं:--

४४१ - अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाऽऽकाशधर्माः ॥ २२ ॥

अव्यूह, अविष्टम्भ और विभुत्व ये आकाश के धर्म हैं ॥

मिले हुवे पदार्थों का आघात से अलग २ होना व्यूह और अन्य देश में गति का निरोध विष्टम्भ कहलाता है । सो आकाश में ये दोनों बातें नहीं हैं न ,तो कोई

आघात से मृत्पिण्ड के समान उसका व्यूहन कर सकता है और न कोई बन्ध बांधकर जल के समान कहीं उसकी गति का निरोध कर सकता है। स्पर्श रहित होने से केवल विभुत्व ही आकाश का धर्म है, अतः आकाश के व्यापक होनेसे परमाणुओं के निरवयवत्व और नित्यत्व में कोई बाधा नहीं हो सकती ॥

अब पूर्वपक्षी फिर शङ्का करता है:-

४४२ मूर्त्तिमताञ्च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः ॥ २३ ॥

पू०-मूर्तिमान् द्रव्यों में परिमाण की उपपत्ति होने से (परमाणुओं में) अवयव का सद्भाव होता है ॥

परिच्छिन्न और स्पर्शवान् द्रव्यों के त्रिकोण, चतुष्कोण, सम, विषय और मण्डलादि अनेक प्रकार के आकार देखे जाते हैं, परमाणु भी परिच्छिन्न और स्पर्शवान् होने से आकार युक्त हैं, अतः निरवयव नहीं हो सकते ॥

पुनः पूर्वपक्षी अपने कथन की पुष्टि करता है:-

४४३ - संयोगोपपत्तेश्च ॥ २४ ॥

पू०-संयोग की उपपत्तिसे भी (परमाणुओं का सावयव होना सिद्ध होताहै) ॥

संयोग परमाणुओं का धर्म है, मध्यस्थपरमाणु इधर उधर के परमाणुओं से संयुक्त होकर उन में व्यवधान (भेद) कराता है, जिस से उस के पूर्व और पर भाग बनते हैं और यही उस के अवयव हैं। अतएव संयोग के होने से परमाणु निरवयव नहीं हो सकते ॥ अब इन का समाधान करते हैं:-

४४४ अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥ २५ ॥

उ०-अनवस्थाकारी होनेसे और अनवस्था की उपपत्ति न होनेसे (निरवयवत्व का) निषेध ठीक नहीं ॥

जितने मूर्त्तिमान् पदार्थ हैं और जो संयुक्त होते हैं वे सब सावयव हैं यह हेतु अनवस्थाकारी है, क्योंकि जब सब पदार्थ सावयव हैं और उन की कोई व्यवस्था है नहीं तो इस दशा में पदार्थों के परिणाम, भेद और गुरुत्वादि का ग्रहण न हो सकेगा अर्थात् मेरु और सर्षपमें तुल्यपरिमाणत्व की अनवस्था होगी अतः अनवस्था के होने से उक्त हेतु अपर्याप्त है ॥

निरवयवत्व का प्रकरण समाप्त हुवा। अब इस बात का विवेचन किया जाताहै कि सब भाव बुद्धि के आश्रित हैं वा नहीं ? प्रथम पूर्वपक्षी भावों के बुद्धिगम्य होने में शङ्का करता है:-

४४५ बुद्ध्या विवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धिस्तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः ॥२६॥

पू०-बुद्धि से विचार ने पर तो भावों की यथार्थ उपलब्धि नहीं होती जैसे तन्तु के अनुभव करने पर पट के सद्भाव की उपलब्धि नहीं होती, वैसे ही (प्रत्येक पदार्थ के बुद्धि से अनुभव करने मात्र से) उस की उपलब्धि नहीं होती ॥

अब इसका उत्तर देते हैं:-

४४६ - व्याहतत्वादहेतुः ॥ २७ ॥

उ०-व्याहत होने से (यह हेतु) अहेतु है ॥

जहां बुद्धिसे विवेचन किया जाताहै वहां भावों की अनुपलब्धि नहीं रह सकती और जहां भावों की अनुपलब्धि है, वहां बुद्धि से विवेचन नहीं किया जाता । इस व्याघात दोष के होने से उक्त हेतु ठीक नहीं । वास्तव में बुद्धि से विवेचन करने पर तन्तु से पट होता है, यह प्रतीति होती है न कि तन्तु ही पट है, यह । और न कोई बुद्धिमान् तन्तु से पट का और पट से तन्तु का काम लेता है, अतः सारे भाव बुद्धि के आश्रित हैं ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

४४७ - तदाश्रयत्वादऽपृथग्ग्रहणम् ॥ २८ ॥

उ० उसके आश्रित होने से पृथक् ग्रहण नहीं होता ॥

कार्य्य सदा अपने कारणके आश्रित रहता है, इसलिये उसका पृथक् ग्रहण नहीं किया जाता अर्थात् कार्य्य कारण के समवाय सम्बन्ध होने से दोनों का साथ २ ग्रहण किया जाता है परन्तु बुद्धिसे विवेचन करने पर उनका भेद स्पष्ट प्रतीत होने लगता है । पुनः उसी की पुष्टि की जाती है:-

४४८ - प्रमाणतश्चाऽर्थप्रतिपत्तेः ॥ २९ ॥

उ०-प्रमाण से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है, इसलिये भी (उक्त कथन ठीक नहीं)॥

जो है और जैसा है, प्रमाणसे उसकी उपलब्धि होती है और वह बिना बुद्धिसे विवेचन किये हो नहीं सकती अतः बुद्धि से विचार करने पर ही सम्पूर्ण भावों की उपलब्धि होती है ॥ पुनः उक्तार्थ की ही पुष्टि करते हैं:-

४४९ - प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ ३० ॥

उ०-प्रमाण की अनुपपत्ति और उपपत्ति से (भी पूर्वपक्ष ठीक नहीं) ॥

" बुद्धि से विचार करने पर कुछ नहीं " यह जो प्रतिवादी का पक्ष था, यदि इस में प्रमाण है तो " कुछ नहीं " यह कहना ही नहीं बन सकता; क्योंकि प्रमाण तो हुवा और वह भी कुछ के अन्तर्गत है और यदि इस में प्रमाण नहीं है तो प्रमाण के विना " कुछ नहीं है " इस की सिद्धि क्योंकर होगी ? यदि प्रमाण के विना भी सिद्धि मानेगे तो " सब कुछ है " यही क्यों न मानलो ॥ अब आगे दो सूत्रों से प्रतिवादी शङ्का करता है:-

४४५० स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाऽभिमानः॥ ३१ ॥

४५१ मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा ॥ ३२ ॥

पू०-स्वप्नविषयक अभिमान के समान यह प्रमाण और प्रमेय का अभिमान है ॥ अथवा माया, गन्धर्व नगर और मृगतृष्णा के समान है ॥

जैसे स्वप्न में विषयों की वास्तविक उपलब्धि नहीं होती; किन्तु मिथ्या अभि-

मान होता है और जैसे माया, गन्धर्व नगर और मृगतृष्णा वास्तव में ये कुछ भी पदार्थ नहीं हैं, केवल संज्ञामात्र हैं, ऐसे ही आप का अभिमत प्रमाण और प्रमेय भाव भी कल्पित और वस्तुशून्य हैं ॥ अब इस का समाधान करते हैं:-

४५२ - हेत्वभावादसिद्धिः ॥ ३३ ॥

उ०हेतु के अभाव से (उक्त पक्ष की) असिद्धि है ॥

स्वप्न में असत् विषयों की उपलब्धि होती है, इस कथन में भी कोई हेतु नहीं है। यदि कहो कि जागने पर उन की उपलब्धि न होना ही इस में प्रमाण है, तो हम कहेंगे कि यदि जागने पर उपलब्धि न होने से स्वप्न में विषयों का अभाव है तो जागे हुवे मनुष्य को उन की उपलब्धि होने से उन का भाव है। तात्पर्य्य इसका यह है कि यदि तुम जाग्रत् अवस्था के अनुपलम्भ के स्वप्न से विषयों का अभाव सिद्ध करोगे तो हम जाग्रत् के उपलम्भ से उन का भाव सिद्ध करेंगे ॥

पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

४५३ - स्मृतिसङ्कल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः ॥ ३४ ॥

उ०-स्मृति और सङ्कल्प के समान स्वप्न विषय का अभिमान है ॥

जैसे पूर्वोपलब्ध विषयों के स्मृति और सङ्कल्प उनका खण्डन नहींकरते,प्रत्युत उन की पुष्टि करते हैं ऐसे ही स्वप्न में विषयों का ज्ञान पूर्वोपलब्ध विषयों का खण्डन नहीं कर सकता। जो सोया हुआ स्वप्न देखता है, वही जाग कर स्वप्न में जो देखा है, उस का प्रतिसंधान करता है कि मैंने यह देखा, तब बुद्धि वृत्ति के जाग्रत अवस्था, में होने से स्वप्न विषयों के मिथ्या होने का निश्चय करता है। यदि स्वप्न और जागरण में कुछ भेद न होता तो " स्वप्नविषय के अभिमानवत् " यह कहना निरर्थक होता। तात्पर्य यह है कि जो धर्म जिस वस्तु में नहीं है, उस धर्म का उस वस्तु में बोध होता प्रधान (उपलभ्यमान) के अधीन है। पुरुषहीन स्थाणु में पुरुष बुद्धि होना सच्चे पुरुष के ही आश्रित है, क्यों कि जिस को कभी पुरुष की उपलब्धि नहीं हुई है, उस को स्थाणु में भी पुरुष का भान नहीं हो सकता, इसी प्रकार स्वप्न में भी हस्ती, पर्वत आदि का देखना तद्विषयक स्मृति और सङ्कल्प के अधीन है ॥

अब भ्रान्ति का निरोध क्यों कर हो सकता है ? यह दिखलाते हैं:-

४५४ - मिथ्योपलब्धिविनाशस्तत्त्वज्ञानात्स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत्प्रतिबोधे ॥ ३५ ॥

उ०-जागने पर जैसे स्वप्नविषयक अभिमान का नाश हो जाता है वैसे ही तत्त्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान का नाश होता है ॥

जिस वस्तु में जो धर्म नहीं है, उसमें उसका मानना मिथ्या ज्ञान कहलाता है। जैसे स्थाणु को पुरुष समझना। और जो पदार्थ जैसा है, उस को वैसा ही मानना। तत्त्वज्ञान कहलाता है, जैसे स्थाणु को स्थाणु और पुरुष को पुरुष मानना। सो यह मिथ्याज्ञान (कुछ का कुछ समझना) तत्त्वज्ञान होने पर ऐसे ही नष्ट हो जाता है

जैसे जागने पर स्वप्न विषयक अभिमान जाता रहता है ॥

अब मिथ्या बुद्धि का सद्भाव सिद्ध करते हैं :—

४५५ - बुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलम्भात् ॥ ३६ ॥

कारण और सत्ता की उपलब्धि होने से मिथ्या बुद्धि का भी (अस्तित्व है) ॥

मिथ्या बुद्धि का कारण और उस से उत्पन्न हुई उस की सत्ता इन दोनों की उपलब्धि होती है, इसलिये मिथ्या बुद्धि भी अवश्य है ॥

अब मिथ्या बुद्धि के भेद दिखलाते हैं:—

४५६ - तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः ॥ ३७ ॥

तत्त्व और प्रधान इन दो भेदों से मिथ्या बुद्धि दो प्रकार की है ॥

स्थाणु तत्त्वहै और पुरुष प्रधान है, इन दोनोंमें भेद होनेसे ही स्थाणु में पुरुष की भ्रान्ति होती है और इसी को मिथ्या बुद्धि कहते हैं जो कि संशयास्पद होने से ही दो प्रकार की मानी गई है। यद्यपि तत्त्व बुद्धि के होने पर मिथ्या बुद्धि नहीं रहती तथापि जब तक तत्त्व बुद्धि उत्पन्न नहीं होती तब तक तो उस की सत्ता माननी पड़ती है ॥ तब तत्त्वज्ञान कैसे उत्पन्न होता है, यह दिखलाते हैं:-

४५७ - समाधिविशेषाभ्यासात् ॥ ३८ ॥

समाधि विशेष के अभ्यास से (तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है) ॥

इन्द्रियों के अर्थों से हटाये हुवे मनको धारक प्रयत्नके द्वारा आत्मामें लगानेका नाम समाधि है, उस समाधी के अभ्यास से तत्त्वबुद्धि उत्पन्न होती है, जिससे चित्त के मल, विक्षेप और आवरण दूर होकर आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान होता है ॥

अब आगे दो सूत्रों से पूर्वपक्ष लेकर शङ्का करते हैं:-

४५८ – नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ ३९ ॥

४५९ – क्षुदादिभिः प्रवर्त्तनाच्च ॥ ४० ॥

पू०-अर्थविशेषों की प्रबलता से तथा भूख आदि की प्रवृत्ति से (समाधि) नहीं हो सकती ॥

इन्द्रियों के अर्थ ऐसे प्रबल हैं कि जो उनको ग्रहण करना नहीं चाहता वह भी उन से बच नहीं सकता। यदि किसी प्रकार कोई कृत्रिम दृश्यों से अपने मन को हटा भी लेवे (यद्यपि यह भी दुष्कर है) तथापि स्वाभाविक दृश्यों से तो वह किसी प्रकार नहीं बच सकता। भूख, प्यास, शीत, आतप और रोगआदि उसके मनको चलायमान करने के लिये पर्याप्त हैं, इस दशा में समाधि की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है ?

अब इसका समाधान करते हैं:—

४६० - पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥ ४१ ॥

उ०-पूर्वकृत फल के लगाव से उस (समाधि) की उत्पत्ति होती है ॥

समाधि की सिद्धि कुछ एक ही जन्म के अभ्यास से नहीं होती, किन्तु अनेक

जन्मों के शुभसंस्कार और अभ्यास इस में कारण हैं। यदि अभ्यास निष्फल होता तो लोक में उसका इतना आदर न किया जाता। जब लौकिक कार्यों के भी विघ्नों को दूर करने की शक्ति अभ्यास में है, तब पारमार्थिक कार्यों में इस की शक्ति क्योंकर कुण्ठित हो सकती है ? अब योगाभ्यास का स्थान बतलाते हैं:-

४६१ - अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥ ४२ ॥

वन, गुफ़ा और नदीतीर आदि स्थानोंमें योगाभ्यास का उपदेश (कियाजाताहै) ॥

विविक्त स्थानों में ही योग का अभ्यास हो सकता है। जब पूर्व संस्कार और वर्तमान के अभ्यास से तत्त्वज्ञान की उत्कट जिज्ञासा होती है तब समाधि भावना के बढ़ने से योग की सिद्धि होती है॥ अब शङ्का करते हैं:-

४६२ - अपवर्गेऽप्येवंप्रसङ्गः ॥ ४३ ॥

मोक्ष में भी ऐसा ही प्रसङ्ग होगा॥

जैसे लोक में कोई अपने को बाह्य अर्थों से नहीं बचा सकता, ऐसे ही मोक्ष में भी इन्द्रिय अर्थों से संयुक्त होकर बुद्धि को विचलित करेंगे॥

अब दो सूत्रों से इसका समाधान करते हैं:-

४६३ - न, निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ॥ ४४ ॥

४६४ - तदभावश्चापवर्गे ॥ ४५ ॥

शरीरादि में (तो) बाह्यज्ञान के अवश्यम्भावी होने से ऐसा नहीं हो सकता, परन्तु अपवर्ग में तो उस (शरीर) का अभाव हो जाता है॥

इन दोनों सूत्रों का तात्पर्य यह है कि शरीरादि के होते हुये तो कोई अपने को सर्वथा बाह्य ज्ञान की उपलब्धि से नहीं बचा सकता; परन्तु मोक्ष में तो इस स्थूल शरीर का जो चेष्टा और इन्द्रियार्थों का आयतन है अभाव हो जाता है अतएव मोक्ष में इन का प्रसङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि जब आधार ही नहीं तो आधेय कहां रह सकता है॥

अब मोक्ष प्राप्ति के साधन दिखलाते हैं:-

४६५ - तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ॥ ४६ ॥

उ०-उस (मोक्ष) के लिये यम और नियमों से तथा अध्यात्मविधि के उपायों द्वारा योग से आत्मा का सँस्कार करना चाहिये॥

योग के आठ अङ्ग हैं, जिन का निरूपण योग शास्त्रके साधन पादमें किया गया है। उनमें से अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह; ये पांच यम पहिला अङ्ग हैं और शौच सन्तोष तपस् स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, ये पांच नियम दूसरा अङ्ग कहलाते हैं। मुमुक्षु को प्रथम इन के सेवन से आत्मा का संस्कार करना चाहिये

अर्थात् योग के प्रतिबन्ध मल, विक्षेप और आवरण को दूर करना चाहिये। तत्पश्चात् योग अर्थात् धारण, ध्यान और समाधि से अध्यात्मतत्त्व को प्राप्त होना चाहिये ॥

मुमुक्षु को फिर क्या करना चाहियेः-

४६६ - ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ॥ ४७ ॥

उ०-ज्ञान के ग्रहण का अभ्यास और उस के जानने वालों के साथ संवाद ॥

उक्त साधनों के अतिरिक्त मोक्ष की प्राप्ति के लिये मुमुक्षु को अध्ययन, श्रवण और मनन के द्वारा तत्त्वज्ञान का निरन्तर अभ्यास और बुद्धि के परिपाक के लिये तत्त्वज्ञानियों के साथ संवाद भी करना चाहिये; क्योंकि बिना अभ्यास के ज्ञान की वृद्धि और बिना संवाद के बुद्धि की परिपक्वता और सन्देहों की निवृत्ति नहीं हो सकती ॥ अब संवाद का प्रकार दिखलाते हैं:-

४६७ - तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयिभिरभ्युपेयात ॥ ४८ ॥

उस (आत्मज्ञ) को विशिष्ट ज्ञानी, श्रेयोऽर्थी और निन्दा रहित शिष्य, गुरु और सहाध्यायी के द्वारा प्राप्त करे ॥

बिना आत्मतत्त्ववित् आचार्य की दीक्षा के कोई आत्मज्ञान का लाभ नहीं कर सकता, अतएव अनिन्दित गुरु, शिष्य और सहाध्यायियों के साथ ऐसे आचार्य की सेवा में विनीत भाव से जाना चाहिये। उपनिषद् भी कहती है-स गुरुमेवाभिगच्छेत्...श्रोत्रियम्ब्रह्मनिष्ठम्। इत्यादि ॥ पुनः इसी का प्रतिपादन करते हैं:-

४६८ - प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ॥ ४९ ॥

तत्त्व की जिज्ञासा होनेपर अपने प्रयोजनकेलिये प्रतिपक्षहीन होकर प्राप्तहोवे ॥

जिज्ञासुको किसी पक्षका आग्रह न होना चाहिये। किन्तु निर्मत्सर होकर किसी पक्ष का स्थापन न करता हुवा तत्त्व का निर्णय करे, क्योंकि अपने पक्ष का आग्रह होने से मनुष्य न्याय का उल्लङ्घन कर जाता है ॥

४६९ - तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् ॥ ५० ॥

जैसे बीजाङ्कुर की रक्षाके लिये कण्टक शाखाओंका आवरण किया जाता है, वैसे ही तत्त्वनिर्णय की रक्षा के लिये जल्प और वितण्डा हैं ॥

जल्प और वितण्डता का लक्षण प्रथमाऽध्याय में कह चुके हैं। जिज्ञासु को मत्सरता और हठ से कभी इन का आश्रय न लेना चाहिये, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर तत्त्व की रक्षा के लिये (जैसे खेत की रक्षा के लिये कांटों की बाड़ लगा देते हैं) इन का प्रयोग करना चाहिये ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

समाप्तश्चायमध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमाऽध्याये प्रथममाह्निकम्

प्रथम अध्याय में साधर्म्य और वैधर्म्य के प्रत्यवस्थान के विकल्प से जाति और निग्रह स्थान का बहुत्व प्रतिपादन कर चुके हैं, अब इस पांचवें अध्याय में इन दोनों का विस्तार से विभाग करते हैं। पहिले आह्निक में जाति का विभाग किया जाता है। जाति के निम्नलिखित चौबीस भेद हैं:-

४७० - साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः ॥ १ ॥

१-साधर्म्यसम, २-वैधर्म्यसम, ३-उत्कर्षसम, ४-अपकर्षसम, ५-वर्ण्यसम, ६-अवर्ण्यसम, ७-विकल्पसम, ८-साध्यसम, ९-प्राप्तिसम, १०-अप्राप्तिसम, ११-प्रसङ्गसम, १२-प्रतिदृष्टान्तसम, १३ अनुत्पत्तिसम, १४ संशयसम, १५-प्रकरणसम, १६-हेतुसम, १७ अर्थापत्तिसम, १८-अविशेषसम, १९-उपपत्तिसम, २०-उपलब्धिसम २१-अनुपलब्धिसम, २२-नित्यसम, २३-अनित्यसम और २४-कार्यसम ॥

ये चौबीस जाति के भेद हैं, इनके पृथक् २ लक्षण और उदाहरण आगे आवेंगे। इन जाति भेदों के द्वारा प्रतिपक्षी के स्थापना हेतुओं का प्रतिषेध किया जाता है ॥

अब साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम का लक्षण कहते हैं:-

४७१ - साधर्म्यवैधर्माभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ॥ २ ॥

साधर्म्य तथा वैधर्म्य से साध्यके उपसंहार करनेपर तद्धर्मव्यतिक्रमकी उपपत्ति होने से साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम (जाति भेद उत्पन्न होते हैं)।

साधर्म्यसमका निदर्शन यह है, कि आत्मा क्रियावान् है, यह किसी की प्रतिज्ञा है, क्रिया और गुण के योग होने से, यह हेतु है, जैसे मृत्पिण्ड, यह उदाहरण है, जैसे लोष्ठ द्रव्य होने से क्रियावान् है ऐसे ही आत्मा भी द्रव्य होने से क्रियावान् है, ऐसा उपसंहार करने पर दूसरा साधर्म्य से ही इस का प्रत्यवस्थान करता है, जो इस प्रकार है:-आत्मा निष्क्रिय है, यह प्रतिज्ञा हुई, विभु होने से, यह हेतु है, जैसे आकाश यह उदाहरण है जैसे आकाश विभु होने से क्रिया रहित है ऐसे ही आत्मा भी विभु होने से निष्क्रिय है। पहिले निदर्शन में क्रियावान् मृत्पिण्ड के साधर्म्य से आत्मा को भी क्रियावान् होना चाहिये दूसरे में क्रियाशून्य आकाश के साधर्म्य से आत्मा को भी निष्क्रिय होना चाहिये इन दोनों में विशेष हेतु के अभाव से साधर्म्यसम प्रतिषेध होता है अब वैधर्म्यसम का दृष्टान्त देते हैं। क्रियागुणयुक्त मृत्पिण्ड परिच्छिन्न देखा जाता है पर आत्मा वैसा नहीं है इस लिये मृत्पिण्ड के समान आत्मा क्रियावान् नहीं है ऐसा उपसंहार करने पर दूसरा

वैधर्म्य से इसका प्रत्यवस्थान करता है, विभु आकाश क्रिया (चेष्टा) रहित देखा जाता है, पर आत्मा ऐसा नहीं है, इसलिये आकाश के समान आत्मा निष्क्रिय नहीं है, यहां दोनों में विशेष हेतु के न होने से वैधर्म्यसम प्रतिषेध हुवा ॥

इन दोनों का उत्तरः-

४७२ - गोत्वाद्गोसिद्धिवत्तत्सिद्धिः ॥ ३ ॥

उ०-गोत्व से गोसिद्धिवत् उस की सिद्धि होगी ॥

केवल साधर्म्य अथवा केवल वैधर्म्य से साध्य के सिद्ध करने में अव्यवस्था उत्पन्न होती है। गोत्वरूप जातिविशेष से गौ की सिद्धि होती है, न कि पुच्छ और विषाण आदि के सम्बन्ध से, अतः प्रत्येक व्यक्ति की सिद्धिमें उसकी जाति (सत्ता) ही मुख्य कारण है, न कि बाह्य चिह्न ॥

अब ३-उत्कर्षसम, ४-अपकर्षसम, ५-वर्ण्यसम, ६-अवर्ण्यसम, ७ विकल्पसम और ८-साध्यसम का लक्षण कहते हैं:-

४७३ - साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः ॥ ४ ॥

साध्य और दृष्टान्त के धर्म विकल्प से दोनों प्रकार से सिद्ध होने वाले उक्त छहों प्रतिषेध होते हैं ॥

दृष्टान्तधर्मको साध्य के साथ जो मिलाता है, उसे उत्कर्षसम कहते हैं। जैसे यदि मृत्पिण्ड के समान आत्मा भी क्रियावान् हो तो उस ही के समान स्पर्शवान् भी क्यों नहीं? यदि स्पर्शवान् नहीं तो क्रियावान् भी नहीं हो सकता। साध्य में दृष्टान्त से धर्म के अभाव को जो कहता है, उसे अपकर्षसम कहते हैं। जैसे क्रियावान् लोष्ठ अविभु देखा गया है, यदि आत्मा भी क्रियावान् है तो वह भी अविभु होना चाहिये। ख्यापनीय वर्ण्यसम और अख्यापनीय अवर्ण्यसम कहलाता है। ये दोनों साध्य और दृष्टान्त के धर्म हैं। साधन धर्मयुक्त दृष्टान्त में धर्मान्तर के विकल्प से साध्य धर्म के विकल्प का प्रसङ्ग कराने वाले को विकल्पसम कहते हैं। जैसे क्रियावान् वस्तु कोई भारी होती है, जैसे लोष्ठ। और कोई हलकी होतीहै, जैसा वायु, ऐसे ही क्रियावान् कोई परिच्छिन्न हो सकता है जैसे लोष्ठ और कोई विभु हो सकता है, जैसे-आत्मा। साध्य का दृष्टान्त में प्रसङ्ग कराने वाले को साध्यसम कहते हैं। जैसे यदि लोष्ठ के समान आत्मा है तो आत्मा के समान लोष्ठ भी होना चाहिये। यदि आत्मा का क्रियावान होना साध्य है तो लोष्ठ का भी साध्य है, अन्यथा जैसा लोष्ठ वैसा आत्मा, यह हो नहीं सकता ॥

अब इन का समाधान करते हैं:-

४७४ - किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः ॥ ५ ॥

साध्य की सिद्धि में कुछ साधर्म्य के कारण प्रतिषेध युक्त नहीं ॥

सिद्ध वस्तु का छिपाना नहीं हो सकता, कुछ साधर्म्य के होने से उपमान को

सिद्धि होती है। दृष्टान्त में दार्ष्टान्त के सारे धर्म नहीं मिल सकते, यदि सब मिलजांय तो फिर वह दृष्टान्त ही नहीं कहला सकता, अतएव वैधर्म्य से साध्य की सिद्धि में दूषण देना ठीक नहीं॥ दूसरा समाधान करते हैं:-

४७५ - साध्याऽतिदेशाच्चदृष्टान्तोपपत्तेः ॥ ६ ॥

साध्य के अतिदेश से भी दृष्टान्त की उपपत्ति होती है॥

उ०-दृष्टान्त में साध्य के एकदेश का अतिदेश किया जाता है, न कि सब अङ्गों का और इसीलिये वह दृष्टान्त कहलाता है, अन्यथा सब अङ्गों के मिलने से तो फिर उसमें और साध्य में कुछ भेद नहीं रहता, इसलिये साध्यसम प्रतिषेध अयुक्त है॥

अब प्राप्यसम और अप्राप्यसम का लक्षण कहते हैं:-

४७६ - प्राप्यसाध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्या अविशिष्टत्वाद-प्राप्त्या असाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ ॥ ७ ॥

पू०-प्राप्ति में विशेषता न होने से हेतु के साध्य को पाकर सिद्ध करने का नाम प्राप्यसम और अप्राप्ति में साधक न होने से साध्य को न पाकर सिद्ध करने वाला प्रतिषेध अप्राप्यसम कहलाता है॥

हेतु साध्य को पाकर सिद्ध करता है वा न पाकर ? यह प्रश्न है। यदि कहो कि पाकर, तो दोनों की विद्यमानता में कौन किसका साधक और कौन किस का साध्य है ? यह अव्यवस्था होगी। यदि कहो कि न पाकर, तो विना प्राप्ति के साध्य साधक भाव हो नहीं सकता, जैसे दीपक जहां नहीं है वहां अपना प्रकाश नहीं कर सकता। इसका तात्पर्य यह है कि प्राप्ति से खण्डन करना प्राप्यसम और अप्राप्ति से खण्डन करना अप्राप्यसम कहाता है॥ अब इसका उत्तर देते हैं:-

४७७ - घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादऽप्रतिषेधः ।८।

उ०-घटादि की निष्पत्ति देखनेसे और अभिचारसे पीड़ा होनेपर निषेध अयुक्तहै।

दोनों प्रकार के प्रतिषेध अयुक्त हैं क्योंकि कहीं हेत्वादि की प्राप्ति से साध्य की सिद्धि होती है और कहीं अप्राप्ति से। प्राप्ति से-जैसे कर्त्ता, करण और अधिकरण ये तीनों मिलकर घटादि कार्यको सिद्ध करते हैं। अप्राप्तिसे जैसे अभिचार (गुप्तरीति से) किसी को पीड़ा पहुंचाने पर वह हेतु को न देखता हुवा वा न जानता हुवा भी पीड़ा का अनुभव करता है यह अप्राप्त हेतु से साध्य की सिद्धि है, अतः प्राप्यसम और अप्राप्यसम प्रतिषेध अयुक्त है॥

अब प्रसङ्गसम और प्रतिदृष्टान्तसम का लक्षण कहते हैं:-

४७८ दृष्टान्तस्य कारणाऽनपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ ॥ ९ ॥

पू०-दृष्टान्त के कारण के अनपदेश से और प्रतिदृष्टान्त के खण्डन होने के कारण प्रसङ्गसम और प्रतिदृष्टान्तसम (प्रतिषेध होते हैं)॥

प्रसङ्ग में खण्डन करना प्रसङ्गसम प्रतिषेध कहलाता है। जैसे- "क्रियावान् लोष्ट है" इस प्रतिज्ञा की सिद्धि में जो यह हेतु दिया था कि "क्रिया गुणयुक्त होने से" यह हेतु पर्याप्त नहीं, क्यों कि क्रियागुणयुक्त लोष्ठ का साध्य है, फिर उसी को हेतु कैसे मान सकते हैं ? प्रतिदृष्टान्त से खण्डन करना प्रतिदृष्टान्तसम कहलाता है। जैसे-" आत्मा को क्रियावान् है " इस प्रतिज्ञा की सिद्धि में ' क्रिया गुणयुक्त होने से लोष्ठ के समान " इन हेतु और दृष्टान्तों के देने पर प्रतिवादी प्रतिदृष्टान्त से इस का खण्डन करता है कि आकाश क्रिया गुण युक्त है, परन्तु निष्क्रिय है ॥

अब प्रसङ्गसम का उत्तर देते हैं:-

४७९ - प्रदीपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः ॥ १० ॥

उ० -प्रदीप के ग्रहण करने में जैसे प्रसङ्ग की निवृत्ति होती है, वैसे ही इस की निवृत्ति (भी हो जायगी) ॥

अज्ञात के ज्ञापनार्थ दृष्टान्त का प्रयोग किया जाता है, उसमें कारणका व्यपदेश निरर्थक है। जैसे दृश्य के देखने के लिये दीपक का प्रयोग किया जाता है। इस पर यदि कोई कहने लगे कि जब तक दीपक का कारण सिद्ध न होजायगा, तब तक दीपक से दृश्य रूप साध्य की सिद्धि अर्थात् दर्शनलाभ को मैं नहीं मानूंगा। जैसा यह कथन असङ्गत है वैसे ही दृष्टान्त में कारण का व्यपदेश चाहना निरर्थक है, क्यों कि जब लौकिक और परीक्षक दोनों को समझाने के लिये दृष्टान्त काम में लाया जाता है तब वह स्वयं सिद्ध है, उस को साध्य मान कर उस के कारण के अनपदेश का उपालम्भ देना व्यर्थ है ॥ अब प्रतिदृष्टान्तसम का उत्तर देते हैं:-

४८० - प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः ॥ ११ ॥

उ०-प्रतिदृष्टान्त के हेतुत्व में दृष्टान्त अहेतु नहीं है ॥

दृष्टान्त के खण्डन में प्रतिदृष्टान्त दिया जाताहै, जब दृष्टान्त साध्य का साधक नहीं तो प्रतिदृष्टान्त उस का बाधक कैसे हो सकताहै ? और न प्रतिवादीने प्रतिदृष्टान्त के साधक होने में कोई विशेष हेतु दिया, अतएव वही प्रश्न जो दृष्टान्त पर किया गया है, हम प्रतिदृष्टान्त पर भी कर सकते हैं ॥

अब अनुत्पत्तिसम का लक्षण कहते हैं ॥

४८१ - प्रागुत्पत्तेः कारणाऽभावादनुत्पत्तिसमः ॥ १२ ॥

पू०-उत्पत्ति के पूर्व कारण के अभाव से अनुत्पत्तिसम प्रतिषेध होता है ॥

अनुत्पत्ति से खण्डन करना अनुत्पत्तिसम प्रतिषेध कहलाता है जैसे वादी ने प्रतिज्ञा की कि "शब्द अनित्य है" इस पर हेतु यह दिया कि "प्रयत्न को आवश्यकता होने से" दृष्टान्त यह दिया कि "घट के समान" अब इस पर प्रतिवादी कहता है कि उत्पत्ति से पूर्व अनुत्पन्न शब्द में प्रयत्न की आवश्यकता जो अनित्यता का हेतु है, नहीं है। उस के अभाव से नित्यत्व प्राप्त हुवा, और नित्य की उत्पत्ति हो नहीं सकती, इस प्रकार अनुत्पत्ति से खण्डन करना अनुत्पत्तिसम कहलाता है ॥

अब इस का उत्तर देते हैं ॥

४८२ - तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः १३

पू०-उत्पन्न के वैसा होने से तथा उस में कारण की उपपत्ति होने से कारणका निषेध नहीं हो सकता ।।

उत्पन्न होकर ही शब्द कहलाता है, उत्पत्ति से पूर्व जब शब्द ही नहीं है; तब अनुत्पत्ति को कारण मान कर उस का खण्डन करना अयुक्त है । तात्पर्य यह है कि प्रयत्न की आवश्यकता (जो अनित्यताका हेतु है) शब्द से तभी सम्बद्ध हो सकती है जब कि वह उत्पन्न होकर शब्द बनजावे और जब शब्द उत्पन्न ही नहीं हुवा है तब उत्पत्ति के पूर्व कारण का अभाव मान कर दूषण देना ठीक नहीं ।।

अब संशयसम का लक्षण कहते हैं:—

४८३ - सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्याऽनित्यसाधर्म्यात् संशयसमः ॥ १४ ॥

पू० सामान्य और दृष्टान्तमें ऐन्द्रियकत्व धर्म समानहैं, अतः नित्य और अनित्य के साधर्म्य से संशयसम प्रतिषेध (होता है) ।

संशय से जिस का खण्डन किया जाय वह संशयसम कहाता है । जैसे " शब्द अनित्य है प्रयत्न की आवश्यकता होने से, घट के समान " इस प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त के देने पर प्रतिवादी हेतु में यह संशय करता है कि प्रयत्न की आवश्यकता रहते हुवे भी उस का नित्य सामान्य के साथ और अनित्य घट के साथ ऐन्द्रियकत्वरूप साधर्म्य है, इस लिये नित्य और अनित्य के साधर्म्य से संशय होता है ।।

अब इस का उत्तर देते हैं ॥

४८४ - साधर्म्यात्संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथा वा संशयोऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः ॥१५॥

उ०-साधर्म्य से संशय होनेपर (भी) वैधर्म्यसे संशय नहीं रहता, यदि दोनों प्रकार से संशय (माना जावे तो) अत्यन्त संशय का प्रसङ्ग (होता है) नित्यत्व के अनभ्युपगम से भी सामान्य का निषेध नहीं होता ॥

जैसे विशेष वैधर्म्यसे पुरुष का निश्चय होजानेपर स्थाणु और पुरुषके साधर्म्य से संशय को अवकाश नहीं रहता । ऐसे ही विशेष वैधर्म्य से शब्द के अनित्य सिद्ध हो जाने पर नित्य और अनित्य के सामान्य साधर्म्य से भी संशय की उपपत्ति नहीं होती, यदि हो तो साधर्म्य के अभाव न होने से अत्यन्त संशय की प्राप्ति होती है, विशेष का ज्ञान होने पर नित्य का साधर्म्य संशय का हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि पुरुष का ज्ञान हुवे पश्चात् स्थाणु और पुरुष का साधर्म्य सन्देह का हेतु नहीं होता ॥

अब प्रकरणसम का लक्षण कहते हैं:-

४८५ - उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ॥ १६ ॥

पू०-दोनोंके साधर्म्य से प्रक्रिया की सिद्धि (होनेपर) प्रकरणसम (होताहै) ॥

पक्ष और प्रतिपक्ष की प्रवृत्ति को प्रक्रिया कहते हैं और वह नित्य और अनित्य के साधर्म्य से सिद्ध होती है, जिस से कि प्रकरणसम की उत्पत्ति होती है। अर्थात् एक पक्ष घट के साधर्म्य से शब्दको अनित्य सिद्ध करता है, दूसरा नित्य के साधर्म्य से उसी को नित्य सिद्ध करता है। इसी प्रकार नित्य और अनित्य के वैधर्म्य से भी प्रकरणसम की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि प्रकरण का आश्रय लेकर खण्डन करना प्रकरणसम कहाता है ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:—

४८६ - प्रतिपक्षात् प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधाऽनुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः ॥ १८ ॥

उ०-प्रतिपक्ष से प्रकरणसिद्धि होने पर प्रतिपक्ष की उपपत्ति होने से प्रतिषेध नहीं हो सकता ॥

यदि दोनोंके साधर्म्यसे प्रकरण की सिद्धि होतीहै तो प्रकरणसिद्धि में प्रतिपक्ष कारण हुवा और जब प्रतिपक्ष कारण है तो फिर निषेध हो नहीं सकता, क्योंकि प्रतिपक्ष और प्रतिषेध इन दोनों की एक साथ उपपत्ति हो नहीं सकती, अतः तत्त्व के अनवधारणसे प्रकरणसिद्धि होतीहै। तत्त्वके निश्चय होनेपर प्रकरण समाप्त होजाताहै।

अब अहेतुसम का लक्षण कहते हैं:-

४८७ - त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः ॥ १८ ॥

पू०-हेतु के तीनों कालों में असिद्ध होने से अहेतुसम होता है ॥

हेतु नाम साधन का है, वह साध्य के पहिले होता है वा पीछे या साथ साथ ? यदि कहो कि पहिले होता है तो साध्य के अभाव में वह साधन किस का था ? और यदि पीछे होना मानोगे तो साधनके अभाव में वह साध्य किसका होगा ? यदि दोनों का साथ २ होना मानोगे तो दोनों के विद्यमान होने पर कौन किस का साधन और कौन किसका साध्य कहावेगा ? इस प्रकार हेतु की तीनों काल में असिद्धि होने से अहेतुसम प्रत्यवस्थान उत्पन्न होगा ॥ अब इसका उत्तर देते हैं:-

४८८ - न, हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः ॥ १९ ॥

उ०-हेतु से साध्य की सिद्धि होने से तीनों काल में (उसकी) असिद्धि नहीं हो सकती ॥

जब कोई भी कार्य्य बिना कारण के और कोई भी साध्य बिना साधन के सिद्ध नहीं होता तब हेतु की त्रैकाल्यासिद्धि कैसे हो सकती है ? और जो प्रतिवादी ने यह कहा था कि साध्य के अभाव में किस का साधन होगा ? इस का उत्तर यह है कि जो बनता है और जो जाना जाता है वही साध्य है और उसी का बनाने वाला और जानने वाला हेतु (साधन) हुवा करता है ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

४८९ - प्रतिषेधाऽनुपपत्तेः प्रतिषेद्धव्याऽप्रतिषेधः ॥ २० ॥

उ०-निषेध की उपपत्ति न होने से निषेद्धव्य का निषेध नहीं हो सकता ॥

हेतु से साध्य की सिद्धि होना, यह प्रतिवादी का निषेद्धव्य विषय है और इस के खण्डन में वह "हेतोस्त्रैकाल्यासिद्धेः" यह हेतु देता है। भाई! तुम्हारा तो पक्ष यह था कि हेतु साध्य की सिद्धि में अपर्याप्त है, फिर अपने कथन की पुष्टि में तुम उसी अपर्याप्त हेतु का आश्रय लेते हो, यह वदतोव्याघात नहीं तो और क्या है? जब दूसरे का हेतु तुम्हारी दृष्टि में उसके पक्षको सिद्ध नहीं करता तो तुम्हारा हेतु तुम्हारे कथन को कैसे सिद्ध करेगा? अतः निषेध अनुपपन्न है॥

अब अर्थापत्तिसम का लक्षण कहते हैं:-

४९० - अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः॥ २१॥

पू०-अर्थापत्तिसे प्रतिपक्षकी सिद्धि होनेपर अर्थापत्तिसम प्रत्यवस्थान होताहै।

एक बात के कहने से दूसरी बात की प्रतिपत्ति होना अर्थापत्ति कहलाती है, उस अर्थापत्ति से प्रतिपक्ष की सिद्धि होने पर अर्थापत्तिसम की उत्पत्ति होती है। जैसे किसी ने कहा कि "उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है", दूसरा अर्थापत्ति से इस का निषेध करता है-"अस्पृष्ट होने से शब्द नित्य है"॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

३९१ - अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः॥ २२॥

उ०-अर्थापत्ति के अनुक्त और अनैकान्तिक होने से अनुक्त की अर्थापत्ति से पक्षहानि की प्राप्ति होती है॥

सामर्थ्य का प्रतिपादन न करके यह कहना कि "अनुक्त की अर्थ से आपत्ति होती है" स्वपक्षहानि को सूचित करता है "उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है" इस का अर्थापत्तिसे यह तात्पर्य निकालना कि "अस्पृष्ट होनेसे शब्द नित्य है" ऐसा ही है जैसा कि "कठिन पत्थर पतनशील है" इस का कोई यह तात्पर्य निकाले कि द्रवीभूत जलमें पतनका अभाव है। बस अर्थापत्ति के अनुक्त और अनैकान्तिक होने से अर्थापत्तिसम प्रत्यवस्थान ठीक नहीं॥ अब अविशेषसम का लक्षण कहते हैं:-

४९२ - एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात् सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः॥ २३॥

पू०-अविशेष में एक धर्म की उपपत्ति होने से सब में समता का प्रसङ्ग होनेसे सामान्य भाव की उपपत्ति से अविशेषसम होता है॥

शब्द और घट में उत्पन्न होना रूप एक धर्म पाया जाता है। तब इन दोनों के अनित्यत्व में अविशेषता हुई, जिससे अविशेषसम प्रत्यवस्थान की उत्पत्ति होतीहै॥

अब इस का उत्तर देते हैं:-

४९३ - क्वचिद्धर्माऽनुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाऽभावः।२४।

उ०-कहीं धर्म की अनुपपत्ति और कहीं उपपत्ति होने से निषेध का अभाव है॥

उस एक धर्म की कहीं उपपत्ति होती है जैसे कि घट उत्पत्तिमान् है तो शब्द

भी उत्पन्न होता है। कहीं नहीं होती, जैसे कि घट स्पर्शवान् है पर शब्द नहीं, अतः अविशेषता के अनैकान्तिक होने से अविशेषसम प्रतिषेध का अभाव है॥

अब उपपत्ति का लक्षण कहते हैं:-

४९४ - उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः ॥ २५ ॥

पू०-दोनों कारणों की उपपत्ति होने से उपपत्तिसम होता है॥

यदि उत्पन्न होना रूप शब्द के अनित्यत्व का कारण मिलता है तो अस्पर्शत्व रूप उस के नित्यत्व का भी कारण उपलब्ध होता है, बस इन दोनों कारणों की उपपत्तिसम प्रत्यवस्थान प्रसक्त होता है॥ अब इसका उत्तर देते हैं:-

४९५ - उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादऽप्रतिषेधः ॥ २६ ॥

उ०-उपपत्तिकारण के स्वीकार से निषेध नहीं हो सकता॥

दोनों कारणों की उपपत्ति को स्वीकार करते हुवे प्रतिवादीने अनित्यत्व के कारण की उपपत्ति को भी मान लिया, फिर उस का निषेध क्योंकर हो सकता है? यदि व्याघात से निषेध माना जावे तो व्याघात दोनों में तुल्य है, फिर दो में से एक की सिद्धि वह कैसे कर सकेगा?॥ अब उपलब्धिसम का लक्षण कहते हैं:-

४९६ - निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः ॥ २७ ॥

पू०-निर्दिष्ट कारणके अभावमें भी साध्य की उपलब्धिसे उपलब्धिसम होताहै।

प्रयत्नजन्यत्व रूप निर्दिष्ट कारण के अभाव में भी वायुप्रेरणाकृत वृक्ष शाखाभङ्ग से जो शब्द उत्पन्न होता है, उस में भी अनित्यत्व धर्म उपलब्ध होता है और यह उपलब्धिसम प्रत्यवस्थान है॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

४९७ - कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ २८ ॥

उ०-कारणान्तर से भी उस धर्म की उपपत्ति होने से निषेध नहीं हो सका॥

जब तुम्हारे ही कथनानुसार कारणान्तर से भी उत्पन्न शब्द में अनित्यता की उपपत्ति होती है फिर उस को मान कर निषेध कैसा? उच्चारण के पूर्व अविद्यमान शब्द की उपलब्धि नहीं, जैसे जलादि वस्तुओंकी अनुपलब्धि आवरण आदिके कारण होती है, वैसी शब्द की नहीं, अतः जलादि के विपरीत शब्द अनुपलभ्यमान है॥

अब अनुपलब्धिसम का लक्षण कहते हैं:-

४९८ - तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः ॥ २९ ॥

पू०-उन की अनुपलब्धि के ग्रहण न होने से अभाव की सिद्धि होने पर उन के विपरीत उपपत्ति से अनुपलब्धिसम होता है॥

नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं और कहतेहैं कि यदि शब्द नित्य होता तो उच्चारण के पूर्व उस की उपलब्धि क्यों नहीं होती? जैसे घटादि की उपलब्धि भित्त्यादि आवरण से नहीं होती, ऐसे शब्द का कोई आवरण नहीं है। इस पर

प्रतिवादी कहता है कि यदि आवरण की अनुपलब्धि से आवरण का अभाव मानोगे तो आवरण की अनुपलब्धि के भी अनुपलम्भ से आवरण की अनुपलब्धि का भी अभाव मानना पड़ेगा, जिस से तद्विपरीत आवरण की उपपत्ति सिद्ध हो जायगी। यह अनुपलब्धिसम प्रत्यवस्थान है ॥ अब इसका उत्तर देते हैं:-

४९९ - अनुपलम्भात्मकत्वादऽनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३० ॥

उ०-अनुपलब्धि के अनुपलम्भात्मक होने से (उक्त हेतु) अहेतु है ॥

"अनुपलब्धि के अनुपलम्भ से" यह हेतु निर्मूल है, क्योंकि अनुपलब्धि स्वयं अनुपलम्भात्मक है। जो है उसकी उपलब्धि होती है और जो नहीं है उस की सर्वथा अनुपलब्धि है, फिर उस अनुपलब्धि की अनुपलब्धि क्या होगी? भला कहीं भाव का भाव और अभाव का अभाव भी हो सकता है? कदापि नहीं। यदि आवरणादि विद्यमान हैं तो उनकी उपलब्धि होनी चाहिये और यदि उन की उपलब्धि नहीं होती तो उनकी अविद्यमानता सिद्ध है ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

५०० - ज्ञानविकल्पानाञ्चभावाऽभावसंवेदनादध्यात्मम् ॥ ३१ ॥

उ०-आत्मा में ज्ञानविकल्पों के होने और न होनेका अनुभव करने से (भी उक्त हेतु) अहेतु है ॥

प्रत्येक मनुष्य के आत्मा में ज्ञानविकल्पों के होने और न होने का अनुभव होता रहता है। यथा—मैं घट को देखता हूं, अग्नि का अनुमान करता हूं, इत्यादि। इस प्रकार किसी को यह अनुभव नहीं होता कि मुझे शब्द के आवरण की अनुपलब्धि है, अतः आत्मसंवेदनीय अर्थों से बाह्य होने के कारण शब्द के आवरण की कल्पना ठीक नहीं ॥ अब अनित्यसम का लक्षण कहते हैं:-

५०१ - साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः ॥

पू०-साधर्म्य से तुल्य धर्मकी उपपत्ति होनेपर सबमें अनित्यत्व के प्रसङ्ग होने से अनित्यसम प्रत्यवस्थान होता है ॥

अनित्य घट के साधर्म्यसे शब्द की अनित्यताको सिद्ध करनेमें सब की अनित्यता सिद्ध होगी, क्योंकि सद्रूप घट के साथ सब भावों का साधर्म्य है अर्थात् घट सत् है तो आत्मा भी सत् है, अतएव आत्मा में भी अनित्यता की आपत्ति होगी ॥

अब इसका उत्तर देते हैं -

५०२ साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधाऽसिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्याच्च ॥

उ०-साधर्म्य से असिद्धि होने पर प्रतिषेध्य के साधर्म्य से भी निषेध की असिद्धि होगी ॥

जब तुम थोड़े से साधर्म्य से सब का साध्य होना सिद्ध करते हो तो तुम्हारा साधर्म्य असाधक हुवा, फिर उससे किया हुवा प्रतिषेध क्योंकर सिद्ध हो सकता है, क्योंकि वह भी तो प्रतिषेध्य के साधर्म्य से प्रवृत्त होता है अर्थात् जब तुम्हारी दृष्टि

में कृतकत्व रूप साधर्म्य शब्द की अनित्यता का साधक नहीं है तौ फिर सद्भावरूप साधर्म्य जिस को लेकर तुम हमारा खण्डन करने में प्रवृत्त हुवे हो, कैसे तुम्हारे पक्ष का साधक होगा ? । पुनः इसीकी पुष्टि करतेहैं:—

५०३ - दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात्तस्य चोभयथाभावान्नाऽविशेषः ॥३४॥

उ०-दृष्टान्तमें जो धर्म साध्य साधन भावसे ज्ञात होताहै, उसके हेतु तथा दोनों प्रकार का होने के कारण अविशेष नहीं ॥

दृष्टान्त में जो धर्म साध्य साधन भाव से जाना जाता है, वह हेतु कहलाता है और वह दो प्रकार का होता है । किसी से समान और किसी से विशेष । समान से साधर्म्य और विशेष से वैधर्म्य होता है, अतः केवल साधर्म्य या केवल वैधर्म्य का आश्रय लेना ठीक नहीं, क्योंकि ये दोनों सापेक्ष हैं ॥

अब नित्यसम का लक्षण कहते हैं:—

५०४ - नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः ३५

पू०-नित्य में अनित्य की और अनित्य में नित्य की भावना होने से नित्यसम प्रत्यवस्थान होता है ॥

“ शब्द अनित्य है ” यह जो प्रतिज्ञा की गई है, इस में यह प्रष्टव्य है कि अनित्यत्व शब्द में नित्य है वा अनित्य ? यदि कहो कि नित्य है तौ धर्म के नित्य होने से धर्मी शब्द भी नित्य होगा और यदि अनित्य कहोगे तो भी अनित्यत्व के अभाव से शब्द नित्य सिद्ध होगा ॥

अब इस का उत्तर देते हैं:-

५०५ - प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाऽभावः ॥ ३६ ॥

उ०-प्रतिषेध्य (शब्द) में अनित्यत्व के नित्य होने से तथा अनित्य में नित्य की उपपत्ति होने से प्रतिषेध का अभाव है ॥

“ शब्द में अनित्यता नित्य है ” इस कथन से प्रतिवादी ने शब्द का अनित्य होना स्वीकार कर लिया, फिर नित्यत्व की उपपत्ति से “ शब्द अनित्य नहीं ” यह निषेध युक्त नहीं है, क्यों कि जब शब्द में अनित्यता नित्य है तौ फिर उस में नित्यत्व की उपपत्ति कैसी ? और यदि शब्द में नित्य अनित्यता का स्वीकार न किया जावे तौ भी हेतु के न होने से निषेध ठीक नहीं, अतः यह प्रश्न कि शब्द में अनित्यता नित्य है वा अनित्य ? अनुपपन्न है ॥

अब कार्यसम का लक्षण कहते हैं:-

५०६ - प्रयत्नकार्याऽनेकत्वात्कार्यसमः ॥ ३७ ॥

पू०-प्रयत्नकार्य के अनेक प्रकार का होने से कार्यसम प्रत्यवस्थान होता है ॥

"प्रयत्न के आनन्तरीयकत्व से शब्द अनित्य है" इस प्रतिज्ञा में जिस के प्रयत्न के अनन्तर जो कार्य होता है, वह न होकर होता है और विध्वंस होने के पश्चात् हो कर नहीं रहता, तथा प्रयत्न के अनन्तर किन्हीं पदार्थों का स्वरूप लाभ होता और किन्हीं की अभिव्यक्ति होती है तो क्या प्रयत्न के अनन्तर शब्द के स्वरूप का लाभ होता है अथवा अभिव्यक्ति ? इस प्रकार प्रयत्न कार्य के अनेक प्रकार का होने से जो दूषण दिया जाता है, उस को कार्यसम कहते हैं।। अब इस का उत्तर देते हैं:-

५०७ कार्यान्यत्वे प्रयत्नाऽहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः॥३८॥

उ०-(शब्द के) कार्यभिन्न होने पर अनुपलब्धि कारण की उपपत्ति से प्रयत्न को हेतुत्व नहीं॥

यदि शब्द को कार्य न माना जावे तो अनुपलब्धिकारण की उपपत्ति से उसकी अभिव्यक्ति के लिये प्रयत्न कारण नहीं हो सकता। जहां प्रयत्न के अनन्तर अभिव्यक्ति होती है, वहाँ अनुपलब्धि का कारण व्यवधान होता है, व्यवधान के हटाने से प्रयत्न के पश्चात् होने वाले अर्थ को उपलब्धिरूप अभिव्यक्ति होती है। शब्द की अनुपलब्धि का कोई व्यवधान नहीं दीखता, जिसके हटाने से शब्द की अभिव्यक्ति हो। इस लिये शब्द उत्पन्न होता है, न कि अभिव्यक्त। इस से सिद्ध है कि कार्यसम प्रत्यव स्थान अनैकान्तिक होने से असाधक है।। जातिभेद समाप्त हुवे, अब इन की समालोचना की जाती है:-

५०८ - प्रतिषेधेऽपि समानोदोषः ॥ ३९ ॥

प्रतिषेध में भी समान दोष है॥

यदि अनैकान्तिक होने से कार्यसम असाधक है तो उस का खण्डन भी अनैकान्तिक होने से साधक नहीं हो सकता, क्योंकि वह किसी का निषेध करता है और किसी का नहीं करता। जैसे शब्द के अनित्यत्वपक्ष में प्रयत्न के अनन्तर उत्पत्ति मानी गई है, अभिव्यक्ति नहीं, ऐसे ही नित्यत्वपक्ष में प्रयत्न के पश्चात् अभिव्यक्ति मानी गई है, उत्पत्ति नहीं। दोनों में विशेष हेतु का अभाव है॥ अनैकान्तिकत्व की सब में अतिव्याप्ति दिखलाते हैं:-

५०९ - सर्वत्रैवम् ॥ ४० ॥

सर्वत्र ऐसा ही है॥

केवल कार्यसममें ही यह अनैकान्तिकत्व दोष प्राप्त नहींहै, किन्तु साधर्म्यसम आदि जो २४ जातिभेद कहे गये हैं, उन सब में इस की प्रसक्ति होती है।। प्रतिषेधों के खण्डन में भी इस की प्रवृत्ति होती है। यथा:—

५१० - प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोषः ॥ ४१ ॥

प्रतिषेध के विप्रतिषेध में भी प्रतिषेध के दोष के तुल्य दोष है॥

खण्डन का खण्डन करने में भी अनैकान्तिकत्व दोष का प्रसङ्ग होता है। जैसे "शब्द अनित्य है कार्य होने से" यह पहला पक्ष हुवा। "कार्य के अनेकधा होने से

इस में कार्यसम प्रत्यवस्थान उपस्थित होता है " यह दूसरा पक्ष है । "प्रतिषेध में भी समान दोष है " यह तीसरा पक्ष है । "प्रतिषेध के प्रतिषेध में भी वही दोषहै" यह चौथा पक्ष है ॥ अब पांचवां पक्ष कहते हैं:-

५११ - प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानोदोषप्रसङ्गोमतानुज्ञा ॥ ४२ ॥

प्रतिषेध को दोषसहित मान कर खण्डन के खण्डन में समान दोष का प्रसङ्ग " मतानुज्ञा " दोष आता है ॥

प्रतिषेध (दूसरे पक्ष) को सदोष मानकर और उसका उद्धार न करके खण्डन के खण्डन में (तीसरे पक्ष में) दोष देने में मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थान प्राप्त होता है, यह पांचवां पक्ष है ॥ छठा पक्ष कहते हैं:-

५१२ - स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे हेतुनिर्देशे परपक्षदोषाभ्युपगमात्समानोदोष इति ॥ ४३ ॥

अपने पक्ष में दोष की उपपत्ति को देखता हुवा हेतु के निर्देश में (परपक्ष का उपसंहार करने पर) परपक्ष में दोष के स्वीकार से समान दोष होता है ॥

स्थापनारूप पहिला पक्ष अपना पक्ष है उस में जब प्रतिषेधवादी ने द्वितीयपक्ष रूप दोष दिया, उसका उद्धार न करके तृतीय पक्ष का आश्रय लेना अर्थात् प्रतिषेध में दूषण देना, यह भी अपना उद्धार न करके पराये दोषको ढून्ढनेसे मतानुज्ञाही रही ॥

इन दोनों सूत्रों से सूत्रकार का आशय यह है कि वादी और प्रतिवादी दोनोंको जहां तक हो सके अपने पक्ष का ही समाधान करना चाहिये, ऐसा न करके जो केवल परपक्ष के खण्डन में ही प्रवृत्त होते हैं, वे उन दोषों को, जो उनके पक्ष में लगाये गये हैं स्वीकार कर लेने से मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थान में जा पड़ते हैं । जैसे किसी को किसी ने चोरी का अपराध लगाया, वह उसका निवारण न करके उस को भी चोर सिद्ध करने लगे तो इस से उस के दोष का परिहार क्या हुवा ? किन्तु रूपान्तर से उसने अपने दोष को स्वीकार कर लिया ॥

इति पञ्चमाऽध्यायस्याद्यमाह्निकम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयमाह्निकम्

विप्रतिपत्ति (विरुद्ध समझना) और अप्रतिपत्ति (न समझना) इन दोनों के विकल्प से अनेक पराजयसूचक निग्रहस्थान उत्पन्न होते हैं, यह प्रथमाऽध्याय में कह चुकेहैं । अब इस अन्तमि आह्निकमें उनका विभाग लक्षण और निरूपण किया जाताहै ॥

पहिले सूत्र में विभाग करते हैं:-

५१३ - प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासोहेत्वन्तरमर्थान्तरंनिरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपोमतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तोहेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ॥१॥

१-प्रतिज्ञाहानि। २-प्रतिज्ञान्तर । ३-प्रतिज्ञाविरोध । ४-प्रतिज्ञासंन्यास। ५-हेत्वन्तर। ६-अर्थान्तर। ७-निरर्थक ८-अविज्ञातार्थ। ९-अपार्थक १०-अप्राप्तकाल ११-न्यून। १२-अधिक। १३-पुनरुक्त। १४-अननुभाषण। १५-अज्ञान। १६-अप्रतिभा १७-विक्षेप । १८-मतानुज्ञा । १९-पर्यानुयोज्योपेक्षण । २०-निरनुयोज्यानुयोग। २१-अपसिद्धान्त, ये २१ और ५ हेत्वाभास ये सब २६ निग्रहस्थान कहलाते हैं ॥

अब प्रतिज्ञाहानि का लक्षण कहते हैं:-

५१४ प्रतिदृष्टान्तधर्माऽभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः ॥ २ ॥

स्वपक्ष में परपक्ष के धर्म का स्वीकार करना प्रतिज्ञाहानि कहलाती है ॥

अपना पक्ष जो स्थापन किया था, उस को छोड़ कर पर पक्ष को स्वीकार करलेना प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान कहलाता है-

जैसे किसी ने प्रतिज्ञा की कि "इन्द्रिय का विषय होने से घट के समान शब्द अनित्य है" इस पर प्रतिपक्षी कहता है कि "सामान्य (जाति) भी इन्द्रिय का विषय है और वह नित्य है, ऐसे ही शब्द भी नित्य रहेगा" इस पर वादी कहने लगे कि "जो जाति नित्य है तो घट भी नित्य हो" यहां प्रतिपक्षी के पक्ष का स्वीकार और अपने पक्ष का त्याग करने से प्रतिज्ञाहानि नाम निग्रहस्थान होता है ॥

अब प्रतिज्ञान्तर का लक्षण कहते हैं:-

५१५ - प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ॥ ४ ॥

प्रतिज्ञात अर्थ के प्रतिषेध होने पर धर्म के विकल्प से उसके अर्थ के निर्देश को प्रतिज्ञान्तर कहते हैं ॥

"शब्द अनित्य है घट के समान इन्द्रियका विषय होनेसे" यह प्रतिज्ञात अर्थ है, इसका जब प्रतिवादी ने निषेध किया कि जाति भी इन्द्रिय का विषय है पर वह नित्य है, इस प्रकार प्रतिज्ञात अर्थ का निषेध होने पर धर्म के विकल्प से उस के अर्थ का निर्देश करना अर्थात् इन्द्रियविषय जाति सर्वगतहै पर इन्द्रियविषय घट सर्वगत नहीं, ऐसे ही शब्द भी सर्वगत न होने से घट की भांति अनित्य है। यहाँ पर "शब्द अनित्य है" यह पहिली प्रतिज्ञा थी, पर अब शब्द सर्वगत नहीं । यह दूसरी प्रतिज्ञा होगई, बस इसीको प्रतिज्ञान्तर कहतेहैं। प्रतिज्ञाके साधक के हेतु और दृष्टान्त होतेहैं,

न कि दूसरी प्रतिज्ञा, अतः अपनी पूर्व प्रतिज्ञा को हेतु और दृष्टान्त से सिद्ध न करके दूसरी प्रतिज्ञा करने वाला प्रतिज्ञान्तररूप निग्रहस्थान में जा पड़ता है ॥

अब प्रतिज्ञाविरोध का लक्षण कहते हैं:-

५१६ - प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ॥ ४ ॥

प्रतिज्ञा और हेतु के विरोध को प्रतिज्ञाविरोध कहते हैं ॥

" द्रव्य गुण से भिन्न है " यह प्रतिज्ञा है " रूपादिकों से अर्थान्तर की अनुपलब्धि होने से " यह हेतु है । यहां यह दोनों परस्पर विरोधी हैं क्योंकि जो द्रव्यगुण से भिन्न है तो रूपादिकों से भिन्न अर्थ की अनुपलब्धि होना ठीक नहीं और जो रूपादिकों से भिन्न अर्थ की अनुपलब्धि हो तो गुण से भिन्न द्रव्य है, यह कहना नहीं बन सकता। यहां प्रतिज्ञा और हेतु इन दोनों में विरोध होने से प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान होता है ॥ अब प्रतिज्ञा संन्यास का लक्षण कहते हैं:-

५१७ - पक्षप्रतिषेधेप्रतिज्ञातार्थाऽपनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ॥५॥

पक्षके खण्डित होने पर प्रतिज्ञात अर्थका छोड़देना प्रतिज्ञासंन्यास कहलाताहै ।

" शब्द अनित्यहै इन्द्रियविषय होने से " ऐसी प्रतिज्ञा करने पर दूसरा कहे कि " जाति भी इन्द्रिय का विषय है, पर अनित्य नहीं " । इसी प्रकार शब्द भी इन्द्रिय का विषय होने से अनित्य नहीं हो सकता। इस प्रकार अपने पक्ष के खण्डित होने पर वादी कहने लगे कि " शब्द को अनित्य कौन कहता है ? " यह अपने प्रतिज्ञात अर्थ को छोड़ देना प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थान कहलाता है ॥

अब हेत्वन्तर का लक्षण कहते हैं:-

५१८ - अविशेषोक्त हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ॥ ६ ॥

जिसमें अविशेष रूप से कहे हेतु के निषेध करने पर विशेष की इच्छा की जाय उस को हेत्वन्तर कहते हैं ॥

" शब्द अनित्य है, बाह्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने से " इस सामान्य हेतु का पूर्वोक्त रीतिसे खण्डन करने पर विशेष हेतु का चाहना अर्थात् उस हेतु में और कोई विशेषण लगाना हेत्वन्तर नाम निग्रहस्थान कहलाता है ॥

अब अर्थान्तर का लक्षण कहते हैं:-

५१९ - प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् ॥ ७ ॥

प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध न रखने वाले अर्थ को अर्थान्तर कहते हैं ॥

" शब्द अनित्य है, उत्पन्न होने से " यह कह कर कोई कहने लगे कि " शब्द गुण है और वह आकाश का है " यह प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध न रखने वाला अर्थान्तर नामक निग्रहस्थान कहलाता है ॥ अब निरर्थक का लक्षण कहते हैं:-

५२० - वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ॥ ८ ॥

जो वर्णों के क्रमनिर्देश के समान है, वह निरर्थक है ॥

"क च ट त प शब्द नित्य हैं, ज ब ग ड द शब्द से झ भ घ ढ ध ष् के समान" यहां अभिधान और अभिधेय भाव के न होने से केवल निरर्थक वर्णों का निर्देश किया गया है, इस लिये यह निरर्थक नामक निग्रहस्थान है ॥

अब अविज्ञातार्थ का लक्षण कहते हैं:-

५२१ - परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहित मप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ॥ ९ ॥

सभा और प्रतिवादी से तीन बार कहा गया भी जो नहीं जाना जाय, वह अविज्ञातार्थ है ॥

जो अर्थवादके समय सभा और प्रतिवादीसे तीनबार समझाया हुवाभी वादीका समझ में न आवे अर्थात् शीघ्र या अस्पष्ट उच्चारण किया जावे उस को अविज्ञातार्थ निग्रहस्थान कहते हैं ॥ अब अपार्थक का लक्षण कहते हैं:-

५२२ - पौर्वापर्यायोगादऽप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् ॥ १० ॥

पूर्वापरकी सङ्गति न होनेसे जो असम्बद्ध अर्थ वालाहै उसको अपार्थक कहतेहैं॥

जिस कथन में अनेक पद और वाक्यों का पूर्वापर अन्वय नहीं है, वह अर्थ के नाश से अपार्थक कहलाता है। जैसे दश दाड़िम, छः अपूप, कुंण्ड, अजा अजिन, मांसपिण्ड इत्यादि असम्बद्ध प्रलाप हैं ॥ अब अप्राप्तकाल का लक्षण कहते हैं:-

५२३ - अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ॥ ११ ॥

अवयव के विपरीत वचन को अप्राप्तकाल कहते हैं ॥

प्रतिज्ञा आदि जो वाक्य के पांच अवयव कहे जा चुकेहैं, वे क्रमपूर्वक ही प्रयोग किये गये पक्ष के साधक होते हैं। उन के क्रम का अनादर करके लौट पौट कर उन का प्रयोग करना अर्थात् पहले प्रतिज्ञा के स्थान में निगमन करना और फिर उपनय दृष्टान्त, हेतु और प्रतिज्ञा को कहना या इनको लौटफेर करना अप्राप्तकाल नामक निग्रहस्थान कहलाता है ॥ अब न्यून का लक्षण कहते हैं:-

५२४ - हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ॥ १२ ॥

किसी एक अवयव से हीन को न्यून कहते हैं ॥

प्रतिज्ञा आदि पक्ष के साधक पांच अवयव हैं, उनमें से किसी अवयव को छोड़ कर स्वपक्ष साधन करने लगना हीन नामक निग्रहस्थान कहलाता है ॥

अब अधिक का लक्षण कहते हैं:-

५२५ - हेतूदाहरणाऽधिकमधिकम् ॥ १३ ॥

जिस में हेतु और उदाहरण अधिक हों वह अधिक कहलाता है ॥

जब एक ही हेतु और उदाहरण से कार्य्य सिद्ध हो सकता हो तब अनावश्यक अनेक हेतु और उदाहरणों का प्रयोग करना अधिक नामक निग्रहस्थान कहलाता है ॥

अब पुनरुक्त का लक्षण कहते हैं:-

५२६ - शब्दाऽर्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ॥ १४ ॥

अनुवाद को छोड़ कर शब्द और अर्थ के पुनर्वचन को पुनरुक्त कहते हैं ॥

अनुवाद से अन्यत्र एक शब्द वा अर्थ को वार वार कहना पुनरुक्त नामक निग्रहस्थान कहलाता है ॥ अनुवाद में पुनरुक्त नहीं कहलाता । यथा-

५२७ - अनुवादेत्वपुनरुक्तंशब्दाऽभ्यासादर्थविशेषोपपत्तेः ॥१५॥

शब्द के अभ्यास से अर्थ विशेष की उपपत्ति होने से अनुवाद में तो पुनरुक्त नहीं कहाता ॥

अनुवाद में तो अर्थविशेष की प्रतिपत्ति के लिये शब्दों का पुनर्वचन करना ही पड़ता है, क्योंकि बिना ऐसा किये अनुवाद की सार्थकता हो ही नहीं सकती । जैसे हेतु के उपदेश से प्रतिज्ञा का पुनर्वचन निगमन कहलाता है । अतः अनुवाद में शब्दों की पुनरुक्ति पुनरुक्त दोष नहीं कहलाती ॥

पुनः पुनरुक्त का ही विशेष लक्षण कहते हैं:-

५२८ - अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ॥ १६ ॥

अर्थापत्ति से सिद्ध का स्ववाचक शब्द से पुनर्वचन पुनरुक्त कहाता है ॥

"उत्पत्तिधर्मक होनेसे शब्द अनित्य है" ऐसा कहनेसे अर्थापत्ति से यह सिद्ध होगया कि "अनुत्पत्तिधर्मक नित्य है" तब पूर्व वाक्य को कह कर उत्तर वाक्य को कहना भी पुनरुक्त है; क्योंकि अर्थबोध के लिये शब्द का प्रयोग किया जाता है, जब अर्थापत्ति से वह अर्थ सिद्ध होगया, तब उस के प्रयोग की क्या आवश्यकता है ॥

अब अननुभाषण का लक्षण कहते हैं:-

५२९ - विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्या-प्यनुच्चारणमननुभाषणम् ॥ १७ ॥

प्रतिवादी से तीन वार जताये हुवे का भी उच्चारण न करना अननुभाषण कहलाता है ॥

प्रतिवादी के तीन वार जतलाने पर भी जो विज्ञात अर्थ का प्रत्युच्चारण नहीं करता, वह अननुभाषण नामक निग्रहस्थान में पड़ता है, क्योंकि जब उच्चारण ही न करेगा तो किसके आश्रय से दूसरे पक्ष का खण्डन करेगा ॥

अब अज्ञान का लक्षण कहते हैं:-

५३० – अविज्ञातञ्चाऽज्ञानम् ॥ १८ ॥

(प्रतिवादी से तीन वार कहे गये अर्थ को भी) न समझना अज्ञानरूप निग्रहस्थान कहलाता है ॥

प्रतिवादी के तीन वार जतलाने पर भी जो किसी बात को नहीं समझता, वह अज्ञानरूप निग्रहस्थान में पड़ता है, क्योंकि बिना जाने कोई किसी का क्या खण्डन कर सकता है ॥ अब अप्रतिभा का लक्षण कहते हैं:-

५३१ - उत्तरस्याऽप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥ १९ ॥

उत्तर की प्रतिपत्ति (सूझ) न होना अप्रतिभा कहलाती है ॥

परपक्ष के निषेध को उत्तर कहते हैं, उसकी प्रतिपत्ति न होना अर्थात् समय पर परपक्ष खण्डनके लिये:उत्तरका न फुरना अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान कहलाताहै॥

अब विक्षेप का लक्षण कहते हैं:-

५३२ - कार्य्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदोविक्षेपः ॥ २० ॥

कार्य्य के व्यासङ्ग (फैलावट) से कथा का विच्छेद विक्षेप कहलाता है ॥

जहां कार्य्य को फैलाकर कथाका विच्छेद कियाजाता है अर्थात् सङ्ग तोड़ दिया जाता है, उसे विक्षेप नामक निग्रस्थान कहते हैं । जैसे यह कार्य्य मुझे अवश्य करना है, इसे पूरा करके फिर प्रकृतविषय पर कहूंगा । तात्पर्य्य यह है कि प्रस्तुत विषय के पूर्ण हुवे विना दूसरे विषय को छेड़ना विक्षेप कहलाता है ॥

अब मतानुज्ञा का लक्षण कहते हैं:-

५३३ - स्वपक्षदोषाऽभ्युपगमात्परपक्षदोषप्रसङ्गोमतानुज्ञा ॥२१॥

अपने पक्ष में दोष स्वीकार करनेसे परपक्षमें दोषका प्रसङ्ग मतानुज्ञाकहलातीहै॥

जो दूसरे के दिये हुवे दोष को अपने पक्षमें मानकर अर्थात् उसका उद्धारकिये बिना परपक्ष में दोष लगता है, वह मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान में पड़ता है, दूसरे पर दोष लगाने से अपने दोष का निवारण नहीं हो सकता ।

अब पर्य्यनुयोज्योपेक्षण कहते हैं:-

५३४ - निग्रहस्थानप्राप्तस्याऽनिग्रहः पर्य्यनुयोज्योपेक्षणम् ॥२२॥

निग्रहस्थान में प्राप्त हुवे का निग्रह न करना पर्य्यनुयोज्योपेक्षण कहलाता है ॥

जो उक्त निग्रहस्थानों में से किसी निग्रहस्थान में पड़ गया है उस को यह कह कर निगृहीत न करना कि तू अमुक निग्रहस्थान में आगया है, पर्य्यनुयोज्योपेक्षण नामक निग्रहस्थान कहलाता है क्यों कि निगृहीत स्वयं अपना पराजय स्वीकार नहीं करता । यद्यपि जय पराजय की व्यवस्था देना सभा या मध्यस्थ का काम है, तथापि यह जतला देना कि अमुक पुरुष अमुक निग्रहस्था में पड़ा है, वादी प्रतिवादी का ही काम है ॥ अब निरनुयोज्यानुयोग का लक्षण कहते हैं:-

५३५ - अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ॥ २३ ॥

जो निग्रहस्थान नहीं है उस में निग्रहस्थान के अभियोग को निरनुयोज्यानुयोग कहते हैं ॥

निग्रहस्थान लक्षण के मिथ्याज्ञान होनेसे जहाँ निग्रहस्थान नहीं है वहांभी प्रतिपक्षी को निगृहीत कहना निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान कहलाता है ॥

अब अपसिद्धान्त का लक्षण कहते हैं:-

५३६ सिद्धान्तमभ्युपेत्याऽनियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः॥२४॥

सिद्धान्त को मान कर अनियमसे कथा का प्रसङ्ग करना अपसिद्धान्तकहलाताहै।

किसी शास्त्र के सिद्धान्त को मान कर उस के नियम विरुद्ध कथा का प्रसङ्ग चलाना अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान कहलाता है। जैसे "सत् का अभाव और असत् का भाव नहीं होता" इस सिद्धान्त को मान कर कोई पुनः यह कहने लगे कि जो पहले नहीं था वह उत्पन्न हुवा और जो अब है वह विनष्ट होगा इत्यादि अपने सिद्धान्त के विरुद्ध प्रसङ्ग छेड़ना अपसिद्धान्त कहलाता है ॥

अब हेत्वाभासों का निर्देश करते हैं ॥

५३७ - हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः ॥ २५ ॥

यथोक्त हेत्वाभास भी (निग्रहस्थान) हैं ॥

प्रथमाध्यायके दूसरे आन्हिकमें सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम साध्यसम और कालातीत, ये पांच हेत्वाभास वर्णित हो चुके हैं। इस आन्तिम सूत्र से आचार्य ने इन का भी निग्रहस्थानों में समावेश किया है। इन के लक्षण वहीं पर दिखलाये जा चुके हैं; इस लिये यहां नहीं लिखे गये ॥

इति पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥ २ ॥

समाप्तश्चाऽयं ग्रन्थः

ओ३म्

न्यायदर्शन सूत्रों की वर्णानुक्रम सूची

इस सूची में सूत्र के आरम्भ का अङ्क जो ऐसे (   ) कोष्ठ में छपा है, वह हमारे भाषानुवाद के साथ छपे सूत्राङ्क का है, जो हमने ग्रन्थ के आरम्भ से समाप्ति तक एक बड़ी सूत्रसंख्या चलाई है, उस में अध्याय आन्हिक की आवश्यकता नहीं ॥

सूत्र के अन्त में जो ३, ३ अङ्क हैं, उन में पहला अध्याय का, दूसरा आन्हिक का, तीसरा सूत्र की संख्या का है ॥

अध्यायशः अङ्कों में व्यत्यय न हो, इस लिये केवल सूत्र के प्रथम वर्ण (अक्षर) मात्र में क्रम रक्खाहै, आगे मात्रा वा दूसरे तीसरे अक्षर तक क्रम नहीं चलाया गयाहै ॥

(अ)

(श)

(स)

(ह)

पुस्तक मिलने का पता—

मैनेजर स्वामी प्रेस मेरठ शहर